भारत की मौलिक एकता

भूमिका

भारतवर्ष प्राचीन देश है। वह अपने जन और संस्कृति के नूतन विकास का साक्षी बनकर आज भी जीवित है। उसका मन विश्व के प्रति स्वच्छ है। आज ही नहीं, सदा की उसकी यही परम्परा है। देश और भूमि के विषय में उसके सात्विक भाव संसार के लिये भी मूल्यवान् हैं। स्वयं भारतवासियों को अपने नवोदय के समय में उनसे परिचित होना जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। भूमि की शक्ति एक ओर, और जीवन की अन्य सब समृद्धि और वैभव दूसरी ओर रखकर यदि तोल दिये जायं तो भूमि के समान जनता को एक सूत्र में बांधने वाली दूसरी कोई शक्ति नहीं है। भूमि की इस आध्यात्मिक प्रेरणा-शक्ति का मूल्य हम सबको नई आंख से फिर पहचानना चाहिए।

यदि भूमि की एकता की संजीवनी शक्ति न हो तो क्षुद्रता के भाव हमारे मनों को दबोच लें और सामूहिक जीवन के टुकड़े-टुकड़े

कर डालें। सामूहिक जीवन का नाम ही राष्ट्रीय जीवन है । एक भूमि, एक राष्ट्र, एक जन, यही नए जीवन का महान् सत्य है; इसके विपरीत अन्य सब मिथ्या है। भूमि की एकता अनमोल वरदान है। इस ऐक्य का गंगाजल ही हमारे राष्ट्रीय दोषों को हटा सकता है, इसके प्रोक्षण से हमारे विचारों की संकीर्णता मिट सकती है । राष्ट्र के नागरिक के चलने का निर्भय राजमार्ग भूमि की एकता पर दृढ़तया आश्रित अखंड राष्ट्र है । जिस क्षण भी हम एकदेशीय होकर सोचने लगते हैं और एक छोटे गांव, जनपद प्रान्त या प्रदेश के हितों को महाभूमि के हितों से अलग मानकर कार्य करते हैं, उसी क्षण हम अपनी मातृभूमि और महान् राष्ट्र का मानसिक खंडन कर डालते हैं। प्रत्येक पृथिवी-पुत्र नागरिक का कर्त्तव्य है कि सब प्रकार राष्ट्र का संवर्धन करे, न कि अपने द्वारा थोड़ा भी राष्ट्र या भूमि का विघात होने दे ।

इस समय भारतीय राष्ट्र के सामने इस महापृथिवी की एकता का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पृथिवी की ही आध्यात्मिक शक्ति राष्ट्र है। मातृभूमि के जाग्रत् चैतन्य का रूप राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयता की प्रेरक शक्ति से ही जन या नागरिक बनते हैं। जिस व्यक्ति के मन में राष्ट्रीयता का अंकुर नहीं है वह राष्ट्र के लिये निरुपयोगी है। राष्ट्र का जो निखरा हुआ रूप भविष्य में बनेगा उसमें ऐसे बुझे हुए व्यक्ति का कुछ उपयोग नहीं जिसके मन में मातृभूमि के प्रेम या राष्ट्रीयता का अमृत प्रवेश नहीं पा सका।

आज इस दुःखद तथ्य से हमारे राष्ट्रीय संगठन को पद-पद पर जूझना पड़ रहा है कि भारतीय भूमि की एकता के अर्थ और उसकी आवश्यकता को हम जीवन से ओझल कर रहे हैं। कहीं भाषाओं के भेद फूट डाल रहे हैं, कहीं प्रादेशिक सीमाएं रगड़ का कारण बनती हैं, कभी जात-पांत और प्रांतीयता की दुस्सह चिनगारियां हमारे पारस्परिक ऐक्य को झुलसाकर राख कर देती हैं। जब मनुष्यों के मनोभाव इस प्रकार क्षुद्रता के शिकार होते हैं तब राष्ट्र-यज्ञ का कोई कार्य आगे नहीं

बढ़ पाता। मातृभूमि की मौलिक और अनिवार्य एकता ही वह वेदि है जिसमें डाली हुई राष्ट्रीय यज्ञ की आहुति राष्ट्र के अधि-देवता तक पहुंचती है; नहीं तो हमारे सारे कर्म और प्रयत्नों का फल बीच में ही पारस्परिक कुचक्र हड़प लेते हैं, वह भस्म में हवन करने की तरह निष्फल चला जाता है।

कौन सी वह युक्ति है जिससे हम अपनी इन क्षुद्रताओं को जीत सकेंगे? किस भांति हमारे मनों में सबसे पहला स्थान भारतभूमि को मिल सकेगा? उक्त प्रश्न हमें बार-बार झकझोर रहे हैं। सबके हित और अपने हित के लिये भी हमें इनका समाधान करना चाहिए। राष्ट्रीय एकता की अनुभूति से ही हम अपनी तंग दुनिया से छुटकारा पा सकते हैं। इस युग में जो राष्ट्र के साथ एक नहीं हुआ उसके लिये शोक है। जब किसी क्षुद्र मनवाले व्यक्ति को राष्ट्र की लोकव्यापी एकता के साथ मिलने का अवसर प्राप्त हो जाता है, तो उसका उद्धार राष्ट्रीयता की पवित्र शक्ति स्वयं कर लेती है।

भूमि की मौलिक एकता कोरा स्वप्न है यदि जनकी एकता और संस्कृति की एकता के साथ उसका मेल नहीं हो सका। वह निर्माण का कार्य तभी कर सकती है, जब एक राष्ट्रीयता के साथ उसका अभिन्न और सच्चा संबंध हो। प्रान्त, धर्म, जाति, भाषा— इनमें से कोई भी वस्तु राष्ट्र से ऊपर नहीं है; अतएव राष्ट्र में सबका अन्तर्भाव है। इनमें से किसी एक बात का आग्रह लेकर यदि हम एक राष्ट्र के साथ टकराते हैं, तो कशमकश उठ खड़ी होती है। आज के युग में इस तरह की खींचातानी बहुत तरह से सिर उठाती रहती है, उससे हमें निपटना होगा।

भारत की मौलिक एकता को श्रद्धापूर्वक मानने और उसके अनुसार आचरण करने की जितनी आवश्यकता इस समय है, उतनी पहले कभी नहीं हुई। यदि यह कहा जाय तो भी सच है कि आज के भारत-वासी नागरिक के लिये इस एकता की पूर्ण सिद्धि के अतिरिक्त

ऊपर उठने का और कोई मार्ग है ही नहीं। यदि भारत की एकता सुरक्षित है, तभी राष्ट्र जीवित रहेगा।

यह मौलिक एकता इतिहास के दीर्घकालीन उतार-चढ़ावों के भीतर पिरोई हुई मिलती है। भूमि की एकता ने ही राष्ट्रीय संस्कृति को बचाए रक्खा, अन्यथा घटनाओं के बवंडरों से सभी कुछ चकनाचूर हो गया होता। आज देश का एक भारी बटवारा हो गया है, पर हमारे मनों में आपसी भेदभाव उत्पन्न करने वाले विचारों का अन्त अब भी नहीं हुआ है। उस बड़े धक्के से चोट खाए हुए राष्ट्र का संतुलन अभी तक नहीं हो पाया है। यद्यपि राजनीति की घटनाओं ने हमें एक राष्ट्र का अंग बना दिया है, किन्तु विचारों के जगत् में हमारा हृदय मातृभूमि के हृदय के साथ अभी तक एक नहीं हो सका है। इसी कारण अब भी मध्यकालीन मनोवृत्ति से हम अपने भेदों की बात अधिक सोचते रहते हैं। ये भेद उग्र रूप से प्रकट होकर जीवन में कटुता उत्पन्न कर देते हैं और पारस्परिक संप्रीति और समन्वय का नाश कर जनता में विरोध बढ़ाते हैं।

देश की मौलिक एकता का प्रश्न हमारे जीवन-मरण का प्रश्न है। उस पर शान्त मन से विचार करना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस विषय में हमारे इतिहास और अतीत जीवन की जो सामग्री है, उस पर इस पुस्तक में विचार किया गया है। भारतीय संस्कृति को विश्व के इतिहास में समन्वय का एक महान् प्रयोग कहना चाहिए। अनेक प्रकार के अनमिल तत्त्वों ने यहां एक साथ मिलकर रहने की पद्धति स्वीकार की और भेदों की अपेक्षा साम्य को आगे रखकर यहां के मनुष्यों ने परस्पर मैत्रीभाव और सहिष्णुता के कितने ही मूल तत्त्वों को खोज निकाला। आज भी विश्व के लिये और हमारे लिये उनका मूल्य है। चोटी तक पहुंचने के अनेक मार्ग हो सकते हैं। यद्यपि सत्य का शिखर एक है, परन्तु मनुष्यों ने रुचि-भेद से वहां तक जाने

के अनेक मार्गों का आविष्कार किया है। भारतीय पद्धति उन सबको आदर के योग्य समझती है। जीवन में इस सत्य का अनुभव हमें एक दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति सहिष्णु बनाता है। सहिष्णुता ही संस्कृति-- प्रधान मानव का सबसे बड़ा गुण है। सहिष्णुता के मार्ग पर चल कर ही युग-युगों के संघर्ष को पार करते हुए हम सांस्कृतिक एकता के समीप पहुँच सके थे।

भारतीय जीवन में हमें सब प्रकार की विविधता मिलती है। भेदों से यहां के मनुष्य परेशान नहीं हुए। अपनी बुद्धि से बाहरी भेदों के पर्दे में छिपी हुई आन्तरिक एकता को उन्होंने ढूंढ़ निकाला। संस्कृति का सूत्रपात करते समय ही उनका ध्यान इस तथ्य की ओर गया था। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में भूमि के विषय में लिखा है--

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरंती।
(अथर्व० १२।१।४५)

यह पृथिवी अनेक भाषाओं के बोलने वाले, अनेक धर्मों के मानने वाले, विविध प्रकार के जन को धारण करती है। इसमें स्पष्ट ही भाषा, धर्म और जन इन तीन तत्वों के भेद को स्वीकार किया गया है। लगभग पांच सहस्र वर्ष या उससे भी अधिक समय से हमारी मातृभूमि की यह स्थिति रही है। किन्तु इन सबको एकता के-अखंड सूत्र में बांधने वाला सर्वोपरि प्रधान तत्त्व स्वयं मातृभूमि है। उसकी सत्ता ध्रुव धेनु के तुल्य अडिग है। भेदों के बीच में भी उसे प्रकम्प नहीं होता। वह सब पुत्रों के लिये समानरूप से दूध रूपी वरदानों का सहस्रधार झरना बहाती रहती है। सब उसके साथ माता-पुत्र के बन्धन में बंधे हैं। माता का पुत्र के साथ संबंध प्रकृति की सबसे महत्त्वपूर्ण सत्यात्मक घटना है। वहीं से जीवन का सोता फूटता है। मातृभूमि के साथ जन का यह संबंध अविचल, त्रिकाल में अबाधित, नित्य नए-नए रूपों में विकसित

होने वाला स्वयंसिद्ध सत्य है। सहस्रों रूपों में पनपने वाली इस एकता को खोज ही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है। एक मूलतत्व का अनेक रूपों में बखान, यही हमारे राष्ट्र का मूल दृष्टिकोण या बीजमंत्र है--

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। (ऋग्वेद १।१६४।४६)

इस देश के बुद्धिमान् समाज-निर्माताओं ने इतिहास के उषःकाल में ही अपने राष्ट्रीय तोरण पर समवाय का यह बीजमंत्र लिख दिया था। इस ललाटलिपि से ही भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। अनेक रूपों में और जीवन के अनन्त क्षेत्रों में यह एकता विकसित हुई है।

भारत की मौलिक एकता का अध्ययन मेरे गुरुवर्य श्री डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने 'दी फंडामेंटल यूनिटी आव इंडिया' नामक अपनी अंग्रेजी पुस्तक में सर्व प्रथम १९१३ ई० में प्रस्तुत किया था। उनके तर्कों की सचाई का सर्वत्र स्वागत हुआ, और एक प्रकार से यह तथ्य राष्ट्रीय इतिहास के सर्वमान्य सत्य की तरह स्वीकार कर लिया गया। उनके प्रदर्शित मार्ग से, किन्तु परिवर्द्धित सामग्री द्वारा, यह इस विषय का हिन्दी भाषा में प्रतिपादन है।

काशी विश्वविद्यालय

गंगा दशमी संवत् २०१०

वासुदेवशरण

अध्याय १

युक्तियाँ

(१) समान मातृभूमि ही राष्ट्र की जननी और प्रथम धात्री है। राष्ट्रीय चैतन्य या उद्‌बोधन का स्रोत मातृभूमि का हृदय है। जन का भूमि के साथ अभिन्न सम्बन्ध माता और पुत्र का प्राकृतिक नित्य सम्बन्ध है। मातृमान् व्यक्ति वह है जो भूमि के साथ माता-पुत्र के सम्बन्ध का अनुभव करता है। मातृमान् हृदय में ही मातृभूमि और राष्ट्र की अनन्त शक्तियां उत्पन्न होती और निवास करती हैं।

(२) भारतवर्ष में अनेक प्रकार की विविधताएँ भी पाई जाती हैं। प्रथम तो, यह भौतिक और सामाजिक विविधता राष्ट्रीय जीवन की बहुविध समृद्धि और सम्पत्ति है। दूसरे, भारतीय राष्ट्र-निर्माताओं ने इस अनेकता के मूल में निहित एकता पर ही सदा बल दिया है। भारतीय संस्कृति के समस्त विकास का मूल इस विचार में है कि एक ही तत्त्व अनेक रूपों में प्रकट होता है और अनेक नामों से पुकारा जाता है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

(३) मातृभूमि की यह मौलिक एकता प्राचीन साहित्य में उपलब्ध देश के नामकरण से भी विदित होती है। भारतवर्ष नाम सूचित करता है कि यह सारा भूखंड एक ही वृष्टि-संस्थान के अन्तर्गत उत्पन्न मेघ-मालाओं और वायु-समूह के अन्तर्गत है जो एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं और दक्षिण के समुद्रों और उत्तर के हिमालय से नियंत्रित होते हैं। इस बृहत् वर्षण-क्षेत्र की ही प्राचीन संज्ञा 'भारतवर्ष' थी।

(४) महाभारत के भूमि-संकीर्तन में सारे देश को भारतवर्ष कहा गया है—

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।

भारतवर्ष के पर्वत, नदी और जनपदों का विस्तृत परिचय एकता की सर्व-सम्मत भावना और देश की भौगोलिक इकाई को प्रमाणित करता है। महाभारत, पुराण, काव्य आदि में जहां-जहां भारतवर्ष का भौगोलिक वर्णन पाया जाता है, वहां-वहां सर्वत्र हिमालय से समुद्र पर्यन्त भूखण्ड की इकाई स्वीकार की गई है। यह भौगोलिक युक्ति बहुत ही पुष्ट प्रमाणों पर आश्रित है।

(५) मातृभूमि को महती देवता मानकर उससे मानवजीवन को श्रेष्ठ बनाने का भाव भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीनकाल से पाया जाता है। धार्मिक साहित्य की भूमि-वन्दनाओं में भारतभूमि को स्वर्ग और मोक्ष दोनों का कारण कहा गया है। कालिदास के अनुसार इसी भूमि पर समृद्ध राष्ट्र सच्चा इन्द्रपद या स्वर्ग है—

ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः। (रघु० २।५०)

(६) अथर्ववेद का पृथिवीसूक्त (१२।१।१-६३) भारतीय राष्ट्रीयता का गान है। इसमें देशप्रेम या राष्ट्रीयता के भारतीय दृष्टिकोण की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार **'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः'** की दृढ़ प्रतीति राष्ट्रीयता की नींव है। जन और पृथिवी के सम्बन्ध का बीज यही भाव है। इस सूक्त में अनेक प्रकार की विविधता को मानते हुए उनके भीतर व्याप्त एकत्व की ओर ध्यान दिलाया गया है।

भूमि और जन का सम्बन्ध भौतिक तो है ही, उससे कहीं अधिक आध्यात्मिक है।

(७) भारतीय जन का विस्तार देश की चारों खूंटों तक फैला हुआ है। यह जन समवाय-प्रधान जीवन-मार्ग का अनुगामी रहता आया है। अशोक जैसे महान् सम्राटों ने पारस्परिक मेल-जोल, प्रीति और सहानुभूति पूर्ण एकत्व को विभिन्न वर्गों के लिये जीवन का श्रेष्ठ मार्ग बताया था—

समवाय एव साधु

यही भारत के ऐतिहासिक विकास को समझने की कुंजी है। यहां समवाय की ऐतिहासिक धारा विरोधों पर सदा विजयशालिनी रही है। समवाय की विचार-पद्धति अन्य सब विचारों से बलवती रही है। उसी ने भारत के लम्बे इतिहास के समस्त राजनैतिक और सांस्कृतिक विकास को नियंत्रित किया है और उन्हें एक सूत्रता में आबद्ध होने के मार्ग पर आगे बढ़ाया है।

(८) भारतीय जन की देशव्यापी संस्कृति के अनेक रूपों में भेद की अपेक्षा साम्य अधिक है। उनमें ऐसी एकता है जिनके कारण भारतीय संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों से अलग पहचानी जाती है। भारतीय धर्म, साहित्य, लिपि, कला, वेश, पर्व, उत्सव, आदि जीवन के प्रत्येक अंग पर भारतीयता की विशिष्ट छाप है जो उसके स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्व को प्रकट करती है। भारतीय संस्कृति ने बाहरी प्रभावों का स्वागत करते हुए भी अपना विशिष्ट रूप सुरक्षित रक्खा है। दूसरी ओर देश के भीतर की विभिन्न जीवन विधियों में खुलकर आदान-प्रदान हुआ है। यद्यपि अनेक धर्म, भाषाएँ और लिपियां हैं, किन्तु उनमें मौलिक ऐक्य है। भारतीयकरण की बलवती प्रक्रिया सूक्ष्म रूप से सब पर अपना प्रभाव डालती रही है। उसकी मौलिक प्रवृत्ति यह है कि समवाय के सांचे में प्रत्येक नए रूप को ढालकर उसे अपना बना लिया जाय। यही संस्कृति की जीवनी शक्ति है। विपरीत परिस्थितियों से यह कुंठित नहीं

होती, बरन् उन्हें अपने वश में लाकर उन पर अपना रंग चढ़ा लेती है। राष्ट्र की यह जीवनी शक्ति उसकी सांस्कृतिक अमरता है।

(९) जीवनी शक्ति का यह विधान सब के अपने-अपने ढंग से जीवित रहने और पनपने की स्वतंत्रता पर आधारित है; इसीलिये इसका सबसे अविरोध रहा है और सब पर इसकी विजय हुई है।

जहां कई संस्कृतियाँ एक साथ मिलती हैं, वहां यही समन्वयात्मक दृष्टिकोण उचित और सब के लिये हितकारी होता है। भारत का यह समवाय प्रधान दृष्टिकोण विश्व के सांस्कृतिक संघर्ष का एकमात्र समाधान है, अतएव संसार के लिये आज इसका सब से अधिक मूल्य है। जाति, धर्म, भाषा, कला, दर्शन आदि के क्षेत्र में भारतवर्ष के सांस्कृतिक प्रयोग मानव जाति के लिये मार्गदर्शक हैं। भारत की सांस्कृतिक प्रयोगशाला का अमृत फल 'समन्वय' विश्व के लिये कल्याणकारी है।

(१०) भारतीय भाषाएँ पारस्परिक आदान-प्रदान के द्वारा एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं। आर्य, द्रविड़, निषाद वर्ग की भाषाओं का स्वतंत्र अस्तित्व होते हुए भी उनके भीतर गहरा सम्बन्ध है।

(११) उनकी लिपियाँ भी एक मूल ब्राह्मी लिपि से विकसित होने के कारण एक दूसरे के निकट हैं।

(१२) देश की सांस्कृतिक एकता की सबसे पुष्कल अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य में पाई जाती है। संस्कृत साहित्य और संस्कृत भाषा समस्त राष्ट्र की मान्य सम्पत्ति हैं। संस्कृत साहित्य राष्ट्रीय साहित्य है जिसने अन्य सब प्रादेशिक साहित्यों को प्रेरित, विकसित और अनुप्राणित किया है। संस्कृत भाषा तो प्रान्तीय भाषाओं की जननी ही है। उसके महत्त्व के सम्बन्ध में गान्धीजी ने लिखा था—'संस्कृत हमारी भाषा के लिये गंगा नदी है। मुझे लगता है कि वह सूख जाय तो भाषाएँ निर्माल्य बन जायँगी।' रामायण, महाभारत, गीता, वेदान्तसूत्र, वेद और पुराण— ये भारतीय साहित्य के सार्वभौम अमर झरने हैं। इनके द्वारा भारतीय ज्ञान का मेघ जल सर्वत्र बरसता रहा है।

सारे देश में एक युग में एक सी साहित्यिक शैली प्रचलित मिलती है। साहित्यिक अभिव्यक्ति के प्रकार भी देश भर में एक से रहे हैं। सूत्र, भाष्य, चूर्णि, टीका, संग्रह, काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि के रूपों में देशव्यापी एकता पाई जाती है।

(१३) भारतीय शिक्षा-पद्धति में सर्वत्र एक समानता थी। शास्त्रीय शिक्षण में गुरु-शिष्य की प्रणाली देश भर में मान्य थी। वैदिक काल से उन्नीसवीं शती तक वह चालू रही। समान पाठ्य ग्रन्थों के द्वारा इस पद्धति की एकता का अतिरिक्त परिचय मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी और पतंजलि का महाभाष्य कश्मीर से कन्याकुमारी तक व्याकरण की शिक्षा के मुख्य साधन थे। उनकी टीकाओं की देश-व्यापी मान्यता होती थी। कालिदास के ग्रन्थ और पंचतंत्र भी इस शिक्षा सम्बन्धी एकता के प्रतीक हैं। राज्य प्रणाली चाहे जो रही हो, विद्वान् और शास्त्रीय साहित्य देश में सर्वत्र आदर पाते थे। काशी, तक्षशिला, मथुरा, नवद्वीप, उज्जयिनी, कांची, नालंदा आदि विख्यात विद्यापीठों में चारों दिशाओं के छात्र अध्ययन के लिये एकत्र होते और वहां से ज्ञान का प्रवाह देश भर में अबाध रूप से फैलता था।

(१४) देश की एकता का स्थूल रूप में प्रत्यक्ष सिद्ध प्रमाण कला और स्थापत्य में पाया जाता है। युगक्रम के अनुसार एक जैसी कला-शैली देश में व्याप्त पाई जाती है। मूर्तियों के निर्माण में प्रायः एक से लक्षण और ध्यान सर्वत्र मिलते हैं। भारतीय मूर्तिकला और प्रतिमाओं, जैसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध, तीर्थंकर, देवी, आदि के रूपों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी देशव्यापी परिषद् ने उन्हें सबके लिये स्थिर किया हो। कला के अलंकरण और अभिप्राय जैसे कमल, पूर्णघट, स्वस्तिक, धर्मचक्र, कल्पवृक्ष, आदि भी सर्वत्र एक जैसे हैं। उनकी भाषा भारतीय है, और जहां तक भारतीय कला का विस्तार मिलता है, हम सर्वत्र कला की परिभाषाओं में एकरूपता पाते हैं। पर्वतों में टंकित गुहा-मन्दिरों और पाषाण निर्मित मन्दिरों की वास्तु शैली में किंचित् प्रान्तीय

विशेषताओं के साथ अद्‌भुत सार्वदेशिक समानता पाई जाती है। तीर्थ-यात्रा के द्वारा इस कला-गत एकता को सब प्रान्तों के निवासी अपनी आंखों से देखते थे।

(१५) देश में सर्वत्र फैले हुए तीर्थस्थान और पुण्यक्षेत्र मातृभूमि की मौलिक एकता के प्रमाण हैं। उत्तर के अमरनाथ, बदरीनाथ, केदार-नाथ और कैलास-मानसरोवर से ले कर दक्षिण में समुद्र तट पर स्थित कन्याकुमारी और सेतुबन्ध रामेश्वर तक, एवं पश्चिम में हिंगुलादेवी से पूर्व में कामाक्षा देवी तक तीर्थस्थानों का जाल सा बिछा हुआ है। भू-सन्निवेश के पहले प्रतीक तीर्थ थे; वे संस्कृति के वितरण केन्द्र हुए। भूमि को अपना बनाने के लिये उसके प्रत्येक भाग का नामकरण किया गया। चारों दिशाओं में संस्कृत के स्थान नामों का ताना-बाना पूरा हुआ है। मध्य-एशिया, अफगानिस्तान, सिन्ध, बलूचिस्तान, कश्मीर, हिमालय, प्राग्ज्योतिष और दक्षिण भारत में संस्कृत स्थान-नामों के नियम और रूप एक जैसे हैं। साथ ही उनमें स्थानीय भाषागत विशेषताएँ भी पाई जाती हैं।

तीर्थों के द्वारा भूमि को देवत्व प्रदान किया गया। शिव, विष्णु, देवी, यक्ष, नाग, बुद्ध, तीर्थंकर आदि से सम्बन्धित तीर्थ देश भर में फैले हुए हैं। तीर्थों के रूप में मातृभूमि के धार्मिक स्वरूप की समग्रता और अखंडता का विश्वास प्रत्येक सम्प्रदाय में पाया जाता है। उस रूप को अपनी आंखों से देखने और उसे अपनी श्रद्धा अर्पित करने की युक्ति तीर्थयात्रा में मिलती है। तीर्थयात्रा भारतीयों के व्यक्तिगत, पारि-वारिक और सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण प्रेरक शक्ति है। उसकी सहायता से देश के विभिन्न भाग एक दूसरे का अत्यन्त निकट परिचय और सम्मान प्राप्त करते आए हैं। प्रान्तीय दूरी और पृथक्ता को हटाने में तीर्थयात्रा द्वारा सबसे अधिक सहायता मिली। तीर्थयात्रा के कारण संस्कृति की धाराएँ एक छोर से दूसरे छोर तक फैलती रहती थीं। लाखों-करोड़ों मनुष्यों के लिये देश की एकता तीर्थों के रूप में प्रकट हुई। तीर्थों को धर्म और संस्कृति का विद्युत्-भण्डार ही कहना चाहिए।

(१६) धर्म के क्षेत्र में भी मातृभूमि की व्यापक एकता के दर्शन होते हैं। शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवता, पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियां, उनके पार्श्वचर और वाहन—इनकी देशव्यापी मान्यता मौलिक है। संस्कार, कर्मकाण्ड, लोक-परलोक की श्रद्धा, इनमें भी सर्वत्र एकता है। जप-तप-व्रत-पूजा-उपवास के विधि-विधान जिनके द्वारा प्रत्येक देश में जनता का धार्मिक जीवन पल्लवित होता है, भारतीय एकता को व्यक्त करते हैं। साधु, सन्त, आचार्य, महात्मा प्रान्तीय सीमाओं से ऊपर रहते हुए जनता का पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं। शंकर, रामानुज, वल्लभ, नानक, चैतन्य, तुलसीदास, रामदास आदि सन्त और धर्मोपदेष्टाओं को समस्त देश अपना मानता है। उनकी धार्मिक और नैतिक भाषा को सर्वत्र स्वागत मिलता है।

(१७) भारत के दार्शनिक जगत् में विचारों का विस्तृत आदान-प्रदान हुआ है। ज्ञान, उपासना, भक्ति और कर्म के जितने दृष्टिकोण कई सहस्र वर्षों में विकसित हुए, उन पर सारी जनता अपना सामान्य अधिकार मानती है। वे एक देशीय नहीं, सार्वदेशिक हैं। षड्-दर्शन, उपनिषद्, श्रुतियां, पुराण, सन्तमत—इनसे समस्त राष्ट्रीय जन को युग-युग में चेतना मिली है। ये ही हमारे धार्मिक साहित्य की राष्ट्रीय निधियां हैं। वेदान्त और भक्ति, ज्ञान और उपासना, ब्रह्म और जीव, माया और प्रकृति, बन्धन और मुक्ति—इन तत्त्वों के सम्बन्ध में सारा देश एक साथ विचार करता रहा है। इनके द्वारा लोगों के मन में एक गूढ़ एकता छाई हुई है। यद्यपि उनके मुख की भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु उनके मन की भाषा एक है, उनके विचारों में सर्वत्र रहस्यमयी एकता है जो असीम है, जो स्वयं वृद्धिशील है और जिसका किसी प्रकार निराकरण नहीं किया जा सकता। सारे भेद मिलकर भी इस आध्यात्मिक ऐक्य को नहीं मिटा पाते। जिस प्रकार ईंधन के भीतर अग्नि छिपी रहती है, जिस प्रकार श्वेत फेनिल दुग्ध के भीतर मक्खन व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भारतीय मानस में धार्मिक और दार्शनिक विचारों की एकता

व्याप्त है। उसे जब चाहे प्रकट किया जा सकता है। अनेक सन्त और आचार्य, महात्मा और उदारदर्शी नेताओं ने भारत के जन-मानस या राष्ट्रीय चैतन्य को मथकर इसी गूढ़ एकता को समय-समय पर प्रकट किया है। उनके आवाहन से आत्मा की यह एकता ऊपर आ जाती है; जनता के मन का गूढ़ ऐक्य उनकी पुकार से उद्बुद्ध रूप में प्रत्यक्ष दीखने लगता है। भारतीय इतिहास में इस प्रकार की हिलोरें सदा उठती रही हैं। निष्पक्ष दृष्टि से देखने वाले अनेक पश्चिमी और भारतीय विद्वान् भारत की इस मौलिक एकता से प्रभावित हुए हैं। यह एकता भारतीय जीवन का पुराना रहस्य है, यह हमारे इतिहास की पुण्य शोभा है। इससे विपरीत विचार पद्धति दूषित है जिससे राष्ट्रीय जीवन का उत्तम तेज मन्द पड़ जाता है——

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्

(अथर्व ७।११५।४)

'जीवन की पुण्य शोभा हमारे यहां फैले, उसकी कुरूपता दूर हो।' जब प्रत्येक व्यक्ति का मन उमंग कर राष्ट्रीय मन के साथ एकता प्राप्त करना चाहेगा और सबकी उन्नति में हम अपनी उन्नति समझेंगे तभी जीवन की यह शोभा हमें मिलेगी। मातृभूमि की सच्ची वन्दना ही हमारे राष्ट्रीय उद्बोधन का नया मन्त्र हैं——

नमो मात्रे पृथिव्यै,
नमो मात्रे पृथिव्यै।
नहि माता पुत्रं हिनस्ति
न पुत्रो मातरम्॥

मातृभूमि को प्रणाम। मातृभूमि को प्रणाम
माता पुत्र का नाश नहीं करती। पुत्र भी माता की हिंसा न करे।

अध्याय २

देश का नामकरण

इस देश का नाम भारतवर्ष है। समस्त भूमि के लिये एक नाम उसकी एकता का प्रतीक है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में पृथिवी और भूमि या माताभूमि शब्द ही मिलते हैं। किन्तु महाभारत और पुराणों में सारे देश के लिये भारतवर्ष नाम प्रचलित हो गया था।

इस विषय में महाभारत के भीष्मपर्व में एक अत्यन्त काव्यमय भारत-प्रशस्ति पाई जाती है। एक प्रकार से यह भारतीय भुवनकोष [भीष्म-पर्व अ० ९] की भूमिका है जिसके श्लोकों में प्राचीन वैदिक छन्दों की गूंज सुनाई पड़ती है—

> अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम् ।
> प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ॥५॥
> पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः ।
> ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ॥६॥
> तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च ।
> ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ॥७॥

कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः ।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ॥८॥
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ॥९॥

संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं--

'हे भारत, अब मैं तुमसे उस भारतवर्ष का बखान करता हूँ जो भारत देवराज इन्द्र को प्यारा था; जिस भारत को विवस्वान् के पुत्र मनु ने अपना प्रियपात्र बनाया था ;

हे राजन् , आदि राज वेनपुत्र पृथु ने जिस भारत को अपना प्रेम अर्पित किया था; महात्मा इक्ष्वाकु की जिस भारत से हार्दिक प्रीति थी;

प्रतापी ययाति और भक्तवर अम्बरीष, त्रिलोकविश्रुत मान्धाता और तेजस्वी नहुष जिस भारत को अपने हृदय में स्थान देते थे; सम्राट् मुचुकुन्द और औशीनर शिबि, ऋषभ ऐल और नृपति नृग जिस भारत को चाहते थे;

हे दुर्धर्ष, महाराज कुशिक और महात्मा गाधि, प्रतापी सोमक और व्रती दिलीप जिस भारत के प्रति भक्ति रखते थे, उसे मैं तुमसे कहता हूँ।

हे महाराज, अनेक बलशाली क्षत्रियों ने जिस भूमि को प्यार किया है, तथा और भी समस्त जनता जिस भारत को चाहती है;

हे भरतवंशी राजन्, उस भारत देश का मैं तुमसे बयान करता हूँ। इस भारत वंदना में जिन चक्रवर्ती राजर्षियों के नाम हैं वे स्वयं देश की एकता के प्रतीक थे और हमारे राष्ट्रीय इतिहास के ऊँचे शिखर हैं। उन्हीं की परम्परा में और भी कितने ही नाम जोड़े जा सकते हैं। मन्वादि राजर्षि विना कारण भारतवर्ष को प्यार करने वाले न थे। इस भूमि की सभ्यता का उपकार करने के लिये उन्होंने कुछ सोच कर ही अपने जीवन का भरपूर दान दिया था। उन पुण्यात्माओं के चरित्रों से यह पृथिवी धन्य हुई। उनके स्थापित आदर्श भारत देश के जयस्तम्भ हैं। वे इसकी संस्कृति को आज भी रस प्रदान करते हैं। भारतीय इतिहास

में एकता के मनोबल को उत्पन्न करने वाले जो वेग हैं उनके साथ इन नामों का सम्बन्ध है ।

ये लोग अपने भौतिक सुखों के कारण भारतवर्ष के अनुरागी न थे। वे यहां के आध्यात्मिक आदर्शों के प्रेमी थे । शिबि और दिलीप इस मातृभूमि पर सत्य और धर्म के प्रकाशस्तम्भ छोड़ गए हैं। सारा देश उनकी ओर देखकर उनसे प्रेरणा प्राप्त करता है। महाभारत के कवि की दृष्टि में इन राजाओं के प्राचीन युगों में देश की संज्ञा भारत थी और उनकी प्रीति भारत के साथ थी। स्थूल सम्बन्धों की अपेक्षा नित्य सूक्ष्म सम्बन्धों की ओर ध्यान खींचना कवि के शब्दों का प्रयोजन है

समग्र मातृभूमि पुण्यभूमि है और वही भारत है । विष्णु पुराण में स्वर्ग और मोक्ष इन दोनों की प्राप्ति के साधन भारत का गान किया गया है--

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
(विष्णु० २।३।२४)

कहां हैं देवता भी स्वर्ग में यह गान करते हैं--"धन्य हैं वे लोग जो भारत-भूमि के किसी भाग में उत्पन्न हुए । वह भूमि स्वर्ग से बढ़कर है, क्योंकि वहां स्वर्ग के अतिरिक्त मोक्ष की साधना की जा सकती है । स्वर्ग में देवत्व भोग लेने के बाद देवता मोक्ष की साधना के लिये कर्मभूमि भारत में फिर जन्म लेते हैं ।"

ऊपर के वाक्य में एक बड़ी सचाई है । स्वर्ग की कल्पना तो संसार के अनेक देशों में हुई, किन्तु मोक्ष की कल्पना भारतीय दर्शन की निजी विशेषता है । मातृभूमि के लिये यह अद्भुत कल्पना है । यहां पुण्यचरित्र और धार्मिक जीवन की साधना के सब द्वार खुले हैं जिनसे स्वर्ग तो मिल ही सकता है, किन्तु स्वर्ग सुख भोग की इच्छा से ऊपर उठकर

मनुष्य मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य भी प्राप्त कर सकता है। स्वर्ग और अपवर्ग भारतीय जीवन के दो आदर्श हैं, राष्ट्रीय संस्कृति के ये दो नेत्र हैं। कालिदास की परिभाषा के अनुसार सब प्रकार से सुखी और समृद्ध राज्य धरती पर स्वर्ग है—

ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्र माहुः

(रघु० २।५०)

'सब प्रकार के भौतिक सुखों से भरा-पुरा राज्य महीतल पर इन्द्र का पद स्वर्ग है।'

किन्तु भारत के सूक्ष्मदर्शी विचारवान् पुरुषों ने समस्त भौतिक सुखों की प्राप्ति से भी ऊँचे नित्य सुख की कल्पना की और उसमें ही जीवन का सार माना। वह स्थिति भौतिक सुखों के त्याग से उत्पन्न होती है। जो त्याग प्रसन्न मन से, एवं आनन्द से भरे हुए चित्त के स्वाभाविक वैराग्य से किया जाता है, वही मोक्ष है। मानव के लिये स्वर्ग और मोक्ष के आदर्श ये ही हैं। सब भौतिक सुख और समृद्धि से संयुक्त राष्ट्र की उपलब्धि स्वर्ग है, और उन सुखों का त्याग मोक्ष है। जो संस्कृति इस मार्ग को सिखाती है वही भारत की संस्कृति है। देश के सभी भाग उसके अन्तर्गत हैं। इसीलिये कहा गया 'धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे'। भारत के किसी भी भाग में मनुष्य जन्म ले स्वर्ग और अपवर्ग वाली संस्कृति से उसका जन्मसिद्ध नाता जुड़ जाता है। यहां यह नहीं कहा गया कि देश का एक प्रदेश या एक प्रान्त या एक नगर मोक्ष-प्रधान संस्कृति का अधिकारी है, बल्कि देश का प्रत्येक भाग मातृभूमि के सत्यात्मक हृदय के साथ मिला हुआ है। सभी को संस्कृति की वेगवती धाराएं प्राप्त हुई हैं। सुदूर मलैवार के शंकराचार्य, तमिल के कम्बन, महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर, असम के शंकरदेव, आन्ध्र के पोतनामात्य, बंगाल के चैतन्य, उत्तरापथ के वाल्मीकि और तुलसीदास, बिहार के बुद्ध और महावीर, राजस्थान की मीराबाई, कश्मीर की लल्लेश्वरी, गुजरात के नरसी मेहता, पंजाब के गुरुनानक, इन सबकी सांस्कृतिक भाषा एक है।

यद्यपि उनका जन्म भारतभूमि के भिन्न-भिन्न भागों में हुआ, पर जीवन का तप और त्याग प्रधान मार्ग उन सब का एक है।

ऊपर के इन दो उद्धरणों से ज्ञात होता है कि हम जिस सांस्कृतिक मातृभूमि की कल्पना करते हैं वही भारत भूमि है। किन्तु देश के नामकरण का एक भौतिक पक्ष भी है। उसका स्पष्टीकरण भी पुराणों में मिलता है। नीचे लिखा हुआ भौगोलिक सूत्र इस देश के स्थूल रूप की परिभाषा प्रकट करता है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत् ।
वर्षं यद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा[1] ॥

(वायु० ४५।७५)

समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण का जो भू-खण्ड है, वह भारत है और इसमें रहने वाली जनता भारती प्रजा है। दक्षिण और उत्तरकी भौगोलिक सीमाओं का और भी नुकीला संकेत इस श्लोक में पाया जाता है।

आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगा प्रभवाच्च वै[2] ।

(वायु० ४५।८१)

कन्या कुमारी से लेकर गंगा के उद्गमस्रोत तक फैली हुई भारतभूमि है। कुमारी अन्तरीप भारत का दक्षिणी छोर है, उसके बाद भारतीय समुद्र का विस्तार है जिसके उत्तर में यह देश है। 'जिसकी भूमि उसका समुद्र'— इस ध्रुव नियम से भारत देश के नामकरण का अनुगामी दक्षिणी समुद्र भारतीय महासागर कहलाता है। इस महासागर के पूर्वीभाग का पुराना

---

१. विष्णु पुराण ने इस श्लोक को इस प्रकार दिया है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥

(विष्णु० २।३।१)

२. आयतस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः । (मत्स्य० ११४।१०)
गंगा के स्रोतों की सब से उपरली सीमा जस्कर शृंखला में जाह्नवी का उद्गम है।

नाम महोदधि है जिसे अब बंगाल की खाड़ी कहने लगे हैं। इसके पच्छिमी भाग का नाम रत्नाकर है जिसे अब अरब सागर कहा जाता है। दक्षिण में जहां ये समुद्र हैं वहां आज भी ये पुराने भौगोलिक नाम जीवत हैं। धनुष्कोटि के समुद्र तट पर एक अपढ़ वृद्ध मछुवे से हमें ये नाम मिले थे। कालिदास ने इन दोनों नामों का ठीक इन्हीं समुद्रों के लिये प्रयोग किया है। रघु की पूर्व-यात्रा के प्रसंग में कहा गया है कि वे अपनी सेना के साथ महोदधि के किनारे जा पहुँचे[1]। इसी प्रकार पुष्पक पर चढ़कर लंका से लौटते हुए राम ने रत्नाकर को स्वयं देखा और सीता को उसे दिखाया[2]।

पूर्व के महोदधि और पश्चिम के रत्नाकर समुद्रों का जहां संगम है उसके समीप ही कुमारी अन्तरीप है। इसे कन्याकुमारी कहते हैं। कन्या-कुमारी नाम बड़ा सार्थक है। तप करती हुई कुमारी पार्वती का यहाँ समुद्र तट पर एक मंदिर है। अखंड ब्रह्मचर्यव्रत धारण किए हुए वे पार्वती क्या सोच रही हैं? वे उन शिव के ध्यान में अहर्निश लीन हैं जो उत्तर में हिमाचल के देवदारु वन की वेदिका पर समाधि में बैठे हुए हैं। देश के दक्षिण-उत्तर के दो बिन्दुओं में संततचारिणी प्राण-धारा के प्रतीक शिव-पार्वती हैं। देश की भूमि केवल मिट्टी पत्थरों का जमघट नहीं है, उसे पार्थिव कणों की राशि मात्र समझना भूल है। वह तो मातृभूमि है, जिसमें दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण तक एक चेतन प्राणधारा विद्युत् शक्ति या कुंडलिनी की तरह सदा सजग रहती है। यह भूमि के स्थूल रूप के भीतर व्याप्त उसकी निगूढ़ ज्योति या चमक है—'अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानती' अर्थात् मातृभूमि के प्राणबिन्दु से अपान बिन्दु की ओर वेग से एक अन्त-

---

१. पौरस्त्यानेव माक्रामंस्तांस्ताञ्जन पदाञ्जयी।
प्राप तालीवन श्याममुपकंठं महोदधेः॥ (रघु० ४।३४)

२. रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरि रित्युवाच।
(रघु० १३।१)

ज्योति बह रही है। यदि यह प्राण-धारा न हो तो उत्तर की घटनाएं दक्षिण के लोगों का स्पर्श न कर सकें और दक्षिण की घटनाएं उत्तर के लिये व्यर्थ रहें। परन्तु राजनीति और संस्कृति दोनों क्षेत्रों में उत्तर दक्षिण एक दूसरे के साथ मिले हैं—यही इतिहास का सत्य है। हिमालय में शिव और दक्षिणी छोर पर कन्याकुमारी का सूत्र देश की इस भीतरी एकता का प्रतीक है। किसी देवयुग में देश के मनीषियों ने विचारपूर्वक संस्कृति और कला के इन बाह्यरूपों को निश्चित किया होगा।

वायु-पुराण में कहा गया है कि उत्तर में गंगा का उद्गम भारतवर्ष की उत्तरी सीमा है। हिमालय में गंगा की चार उपरली धाराएँ हैं जिनके नाम अलकनन्दा, भागीरथी, मन्दाकिनी और जान्हवी हैं। लोकमें ये चारों पर्याय समझे जाते हैं, किन्तु हिमालय के प्रस्रवण क्षेत्र में ये चारों धाराएं अलग अलग हैं। देव प्रयाग में इन सबके मिलकर एक हो जाने के बाद गंगा नाम पड़ता है। इनमें मुख्य नाड़ी अलकनन्दा है जो बदरीनाथ के पास अलकापुरी की बांक से निकलती है। उसी अलकनन्दा में देव-प्रयाग के संगम पर भागीरथी मिलती है जो गंगोत्तरी की ओर से आई है, और रुद्र प्रयाग के संगम पर केदारनाथ से आई हुई मंदाकिनी मिली है। गंगा की सबसे उपरली धारा जाह्नवी है जो गंगोत्तरी से कुछ ही मील नीचे भागीरथी में मिलती है। पर वह हिमालय के उस पार जंस्कर पर्वत-शृंखला से निकली है जो सतलज और गंगा के बीच का जल विभाजक है। जान्हवी का उद्गम टीहरी रियासत का सबसे ऊपरी छोर है। अक्षांश के हिसाब से जान्हवी सबसे ऊपरी धारा है जिसका जल गंगा में मिला है। इसलिए जहां तक गंगा है वहीं तक उत्तर में भारतवर्ष है, यह परिभाषा पुराने समय में बन गई थी।

भरत शब्द की निरुक्ति—भारत नाम का संबंध भरत से है। इस नाम की कई व्याख्याएं प्राचीन साहित्य में मिलती हैं। उनके तीन दृष्टिकोण हैं, एक राजनैतिक, दूसरा जन-संबंधी, तीसरा सांस्कृतिक।

जो इस प्रकार हैं। भरत राजा के कारण देश का नाम भारत हुआ, भरत जन के कारण इसकी संज्ञा भारत हुई, एवं भरत अग्नि की संस्कृति का क्षेत्र होने से यह भारत कहलाया। भरत राजा के नाम से देश को भारत, प्रजाओं को भारती, हस्तिनापुर के मुख्य राजवंश को भरतवंश और उसके राजाओं को भारत कहने लगे। यह मत महाभारत के आदि पर्व में व्यक्त किया गया है[1]। भरत अत्यन्त प्रतापी चक्रवर्त्ती सम्राट् थे—

स राजा चक्रवर्त्यासीत्सार्वभौमः प्रतापवान्।

(आदि० ६९। ४७)

उन्हें दौःषन्ति भरत भी कहते हैं। भरत ने चारों दिशाओं के अन्त तक इस भूमि को जीतकर चक्रवर्ती राज्य स्थापित किया और अश्वमेध यज्ञों से यजन किया। ऐतरेय ब्राह्मण जैसे प्राचीन ग्रन्थ में इसका स्पष्ट उल्लेख आया है:—

तस्माद्ु भरतो दौष्वन्तिः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वैश्व मेध्यैरीजे ।

(ऐतरेय ८।२३)

ऐतरेय और शतपथ के अन्य प्रमाणों के अनुसार दौष्वन्ति भरत ने अठहत्तर यज्ञ यमुना के किनारे और पचपन गंगा के तट पर किए थे[2]। शतपथ ब्राह्मण की अनुश्रुति तो यहाँ तक है कि शकुन्तला के पुत्र भरत ने समस्त पृथ्वी को अपने विजित में लाकर एक सहस्र से भी अधिक यज्ञीय अश्व इन्द्र के लिये अर्पित किए

---

१. भरताद् भारतो कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ।
अपरे ये च पूर्वे च भारता इति विश्रुताः ॥
आदिपर्व (पूना) ६९।४९

२. अष्टा सप्तति भरतो दौषन्तिर्यमुनानतु ।
गंगायां वृत्रघ्नेऽबध्नात्पंचपंचाशतं हयान् ॥
(ऐ० ८।२३; शतपथ १३।५।४।११)

थे[1]। देश में यत्र तत्र सर्वत्र आर्य संस्कृति को फैलाने की सर्वमान्य युक्ति यज्ञों का विधान था। यज्ञ राज्य-विस्तार के साथ प्रसारित होते थे। निश्चय ही भरत के चतुरन्तशासन में इस भूमि को राजनीतिक एकता प्राप्त हुई, अतएव भरत का नाम भूमि के नाम के साथ संयुक्त हो जाना स्वाभाविक था।

महाभारत में कहा है कि भरत के जन्म के अनन्तर दुःषन्त ने शकुन्तला को उसे सौंपते हुए कहा कि तुम्हारे द्वारा इसका भरण-पोषण करना आवश्यक है अतएव इसका नाम भरत होगा। जब भरत बड़े हुए तो वे युवराजपद पर अभिषिक्त हुए। और तब महाप्रतापी भरत का लोकों को गुंजाने वाला रथचक्र अप्रतिहतगति और प्रभास्वर तेज के साथ चारों दिशाओं में घूम गया[2]। इसके फलस्वरूप चक्रवर्ती भरत का विजित भारत कहलाया। इन गाथाओं में भरत के लिये 'समन्त पृथिवी का स्वामी' और 'सब पृथिवी का विजेता' पद महत्व के हैं। समन्त पर्यन्त पृथिवी के अधीश्वर को एकराट् कहा जाता था। समन्त का अर्थ है चारों दिशाएं, पृथिवी की चार खूंटें; उनकी सीमा तक पृथिवी को अपने विजित में लाने वाला पृथिवीपति एकराट् संज्ञा का अधिकारी माना जाता था। प्राचीन भारतीय राजनीति की यह एक परिभाषा थी जिसका उल्लेख राज्याभिषेक पद्धति के मंत्रों में आता है। इन प्रमाणों

---

१. शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरतं दधे।
परः सहस्रानिन्द्रायाश्वान्मेध्यान् य आहरद्विजित्य पृथिवीं सर्वामिति।
(श० १३।५।४।१३)।

२. भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि।
तस्माद् भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः ॥६९।३३॥
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभिषेचयत् ॥६९।४४॥
तस्य तत्प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसंनादनं महत् ॥६९।४५॥
(आदि पर्व)

से इतना निश्चयपूर्वक जाना जाता है कि एक आदर्श राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त भारत भूमि के सम्मिलित हो जाने की कल्पना ब्राह्मण-युग की राजनीति में भारतीय भूगोल का सर्वमान्य सत्य बन चुका था। 'चतुरन्तामिमां पृथिवीं पुत्रो मे पालयिष्यति' (आदि० ६९-२७) इस श्लोक में चतुरन्त पृथिवी को एक राजनीति के सूत्र में बांध लेने की जिस कल्पना का आरम्भ भरत के साथ हुआ, उसी की पुनरावृत्ति हम इतिहास में बार-बार पाते हैं। भारतवर्ष के इतिहास की तरह प्रायः प्रत्येक देश में राजनीतिक एकीकरण का यही ढंग पाया जाता है। हम देखते हैं कि कितने ही सामन्तों के बीच में एक राजशक्ति उठ खड़ी होती है और अपने प्रताप से अन्य सब पर अपना सिक्का बैठाकर देश को एक राजनीति के सूत्र में पिरो देती है। भारतवर्ष के इतिहास के उषःकाल में ही भरत चक्रवर्ती के रूप में हम इस प्रक्रिया को सत्य होता हुआ पाते हैं। यह पूर्व युग का इतिहास है। आधनिक युगों के निकट प्रसिद्ध होने वाले इतिहासों में भी राजनीतिक एकता का ठाठ यही रहता है। अभी बहुत दिन नहीं हुए इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि देशों में एक राज-सत्ता इसी तरह ऊपर उभरी। नन्द, मौर्य, गुप्त आदि साम्राज्य अपने रथचक्र की अप्रतिहत गति से भूमि को एक राजनीति के सूत्र में बांधने के उत्तरोत्तर प्रयोग हैं। किन्तु इतिहास की दीर्घकालीन पगडंडियों में भरत के यश को कोई न पा सका—

> **महदद्य भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः।**
> **दिवं मर्त्य इव बाहुभ्यां नोदापुः पंचमानवाः॥** (शतपथ)

'भरत के बड़प्पन (महत्) को न पहले के, और न बाद के मनुष्यों में आजतक कोई पा सका है, जैसे धरती पर खड़े हुए व्यक्ति के लिये आकाश का छूना कठिन है[1]।'

---

१. भरत की श्रेष्ठता को भागवत में यों कहा गया है—

> **येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्;**
> **येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति॥** (भागवत ५।४।९)

भरत से भारत नाम की उत्पत्ति देश की एकता का युगान्तव्यापी चिह्न बन गई। महाभारत के भारतीय भूगोल पर इसकी पक्की छाप लग चुकी थी। तभी हम देखते हैं कि भीष्मपर्व में भारतीय भुवन कोष का वर्णन करने से पूर्व 'अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्' की प्रस्तावना जानबूझ कर रक्खी गई है।

इसी के अतिरिक्त प्राचीन अनुश्रुति की एक बारीक ध्वनि और भी सुनाई पड़ती है जिसमें सब प्रजाओं का भरण करने और उन्हें जन्म देने के कारण मनु को भरत कहा गया। नाम की उस निरुक्ति के अनुसार यह वर्ष भारत कहलाया[1]। इसका यह अभिप्राय हो सकता है कि मनु आदि-प्रजापति थे। उन्होंने सबसे पहले धर्म और न्याय की मर्यादा बांधी। उनकी बांधी हुई व्यवस्था के अनुसार प्रजाओं के भरण-पोषण का सिलसिला शुरू हुआ। इस भरणात्मक गुण के कारण मनु भरत कहे गए। जिस भू-खण्ड में मनु की संतति ने निवास किया और जहां मनु की चलाई हुई रीति-नीति प्रचलित हुई, उस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इस व्याख्या की यह विशेषता है कि इसमें देश के नाम को और भी व्यापक आधार पर समझने का प्रयत्न किया गया है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में भी इस बात को माना है कि यह मातृभूमि मनु की संतति (मानवों) के बेरोकटोक (असंबाध) बसने का स्थान है।

भारत नाम की ऊपर लिखी व्युत्पत्तियों का आधार राजनैतिक है। इसके अतिरिक्त नाम की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी सम्भव है जिसका मूल और भी पुराना है। ऋग्वेद काल में भरत आर्यों की एक प्रतापी शाखा या जन की संज्ञा थी। विपाट् और शुतुद्रि

---

१. भरणात्प्रजानां चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्त वचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम्॥
(मत्स्य० ११४।५)

वायुपुराण ४५।७६ में 'भरणाच्च प्रजानां वै' पाठ है।

नदियों को पार करके भरत जन जिस प्रदेश में आबसा वह भरत जनपद कहलाया[1]। मोटे तौर पर यह कुरु जनपद का इलाका था। ब्राह्मण काल में ही भरत जन का अन्तर्भाव कुरु-पंचाल के क्षत्रियों में होने लगा था, यद्यपि पाणिनि के समय में भी भरत जनपद नाम की स्मृति बच गई थी। इस जनपद का राजनीतिक प्रभुत्व वैदिक काल में सबसे ऊपर तैर आया था। भरत जनपद की प्रजा भारती कहलाने लगी। भरत जन के आधार पर देश का विशेष भू भाग आरम्भ में भारत कहलाया और उसी के बढ़ते हुए महत्त्व के साथ यह नाम गंगा-यमुना की अन्तर्वेदि की ओर बढ़ता हुआ क्रमशः सर्वत्र फैल गया। भरत जन के देश का नाम भारत पड़ा, यह कल्पना बड़ी रमणीय है। वस्तुतः भारतीय जन के ऐकान्तिक समन्वय से ही जनता और भूमि की एकता सिद्ध हुई है। जन जब बढ़ता है, उसमें पृथक्त्व की रेखाएं विलीन हो जाती हैं। जन के विकास की प्रवृत्ति यही रहती है कि क्रमशः भेद हटते जाते हैं और शनैः शनैः सब लोग एक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत ढल जाते हैं। जन की एकता जब अपनी पूर्ण अवस्था को पहुँच जाती है, तब राष्ट्रीयता का पूरा विकास समझना चाहिए।

भारत नाम की तीसरी व्युत्पत्ति का दृष्टिकोण सांस्कृतिक है। ऋग्वेद में ही अग्नि को भारत कहा गया है—तस्मा अग्निर्भारतः शर्म यंसत्, (ऋ० ४।२५।४)। ब्राह्मणों में यह परिभाषा पुनः कई बार दुहराई गई है—अग्निर्वै भरतः स वै देवेभ्यो हव्यं भरति (कौषीतकी ३।२)[2]।

अर्थात् अग्नि देवों के पास हवि पहुँचता है, इसलिये उसे भरत कहते हैं।

---

1. यदंग त्वा भरताः संतरेयुर्गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूतः।
(ऋ० ३।३३।११)

2. एष (अग्निः) हि देवेभ्यो हव्यं भरति।
तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहुः।
(श० १।४।२।२)

महाभारत में अग्नि के भरत नाम की और उसके क्रमशः प्रसार की व्याख्या यों की गई है—

भरत्येष प्रजाः सर्वास्ततो भरत उच्यते ।

(वनपर्व, पूना, २११।१)

'अग्नि भरत है क्योंकि वह **प्रजाओं को भरता है ।**' देश में जहाँ-जहाँ अग्नि फैलता है, प्रजाएं उसकी अनुगामी होकर उस प्रदेश में भर जाती हैं, या फैल जाती हैं। हमारे आदि युग के भूसन्निवेश की यही परिपाटी थी । प्रत्येक जाति भूमि के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करती है । पृथिवी पर जन के बस जाने को भू-सन्निवेश कहते हैं । भारती प्रजा या भारतीय जन इस भूमि पर यज्ञीय अग्नि के प्रतीक से नदी तटों पर वेदियां रचता हुआ फैला—

एवं त्वजनयद् धिष्ण्यान् वेदोक्तान् विविधान् बहून् ।
विचरन् विविधान् देशान् भ्रममाणस्तु तत्र वै ॥

(वनपर्व, पूना, २।१२।२०)

इस प्रकार अपने लिये विविध देशों में वेदोक्त विधि से वेदियां (धिष्ण्य) कल्पित करता हुआ भरतअग्नि लोक में फैल गया। देश के अनेक भू-भाग उसके चंक्रमण के अन्तर्गत आ गए । जहां यज्ञ की वेदिका बनी, वहीं आर्यजन का जय स्तम्भ स्थापित हो गया । यज्ञ के यूप जन के विस्तार के प्रतीक बन गए। पृथिवी सूक्त में भी इस तथ्य का उल्लेख किया गया है—

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुतयः पुरस्तात् ॥
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ।

(पृथिवी सूक्त मं० १२)

विश्वकर्मा लोग जिस भूमि पर यज्ञ का वितान फैलाते हैं, जहां वे वेदि (नये-नये अनुष्ठानों की केंद्रीय भूमिका) रचते हैं, जिस पृथिवी पर यज्ञ के पुण्य-स्तम्भ ऊर्ध्व स्थापित हैं जो अग्निहोत्र के द्वारा

चमकते रहते हैं——ऐसी मातृभूमि उन यज्ञों से बढ़ती हुई हमारा भी संवर्धन करती है। आद्य भूसन्निवेश के समय देश-विस्तार की यही राष्ट्रीय युक्ति थी। यज्ञीय अग्नि राष्ट्रीय संस्कृति की जननी और प्रतीक थी। जन का यह विस्तार नदियों के काँठे में हुआ, नदी-तटों के मार्ग वेदि और यूपों से सज्जित हुए, अतएव नदियाँ सच्चे अर्थों में यज्ञवेदियों की माताएं हुईं :——

एता नद्यस्तु धिष्ण्यानां मातरो याः प्रकीर्तिताः।

(वनपर्व २१२।२४)

मातृभूमि का घुटना काला था। राष्ट्रीय जन जब उसकी गोद में बैठा तो वहाँ-वहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित होने से मातृभूमि की गोद में चमक आती गई। इस प्रकार समग्र भूमि भरत-अग्नि का व्यापक क्षेत्र बन गई और यही भरतक्षेत्र भारत कहलाया। सिन्धु, सरस्वती, यमुना गंगा नर्मदा, गोदावरी, कावेरी——इन सात महानदियों के उत्संग में भरत-अग्नि की संस्कृति का विस्तार हुआ। प्रत्येक नदी प्रदेश एक पात्र था। उसमें राष्ट्रीय जन फैलने लगा और अपनी संस्कृति की धारा भरने लगा। जब वह पात्र भर गया तब भरत अग्नि आगे बढ़ी और उसने नये अग्न्यागार बनाए। सचमुच अपने देश की संस्कृति नदी मातृक है। नदियों ने ही भौतिक रूप में अपनी मिट्टी से भूमि का ताना-बाना करोड़ों वर्षों में तैयार किया। जब वह बन गया तब उसके साथ जन का संपर्क होने लगा। जन-विस्तार के लिये नदियों के नाड़ी-जाल का सूत्र भूमि पर फटका हुआ था, जैसे कोई सूत्रधार गृहनिर्माण या नगरमापन के लिये अपना सूत्र छोड़ता है। उसी क्रम से विस्तीर्ण होकर, बिना एक दूसरे को दबाए हुए समस्त जन भूमि पर छा गया। उसके उस प्रकार भर जाने (संभरण) का प्रतीक अग्नि थी, वह भरत कहलाई। संस्कृत की ज्योति का ही नाम अग्नि है। उसने प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपनी वेदि तैयार की, मनुष्यों के

मन की अग्नि इस अग्नि से मिल गई, तब भरत-अग्नि का कार्य पूरा हुआ। आज तक जन-जन के मानस में वही चिनगारी है। विचार और कर्म के रूप में वह झट प्रकट हो जाती है। उस अग्नि से भूमि का हर एक भाग भरा हुआ है। यही जन का मातृभूमि के साथ अखंड संबंध है। जहाँ तक भूमि का विस्तार है वहीं तक राष्ट्र के जन का भी विस्तार है; उसमें कहीं व्यवधान, खाली जगह या विरुद्ध स्थान नहीं रह जाता। इसी अखंड भाव की यह वैदिक परिभाषा थी—

यावती भूमिः तावती वेदिः ।

जितनी भूमि हैं, उतनी ही हमारे यज्ञ की वेदि है जिसमें भरत-अग्नि जल रही है। यज्ञों के कर्मकांड तो स्थूल चिन्ह हैं । वास्तविक वेदि तो मनुष्यों के मन हैं जिनमें संस्कृति की शुभ्र अग्नि भासित होती है। उसमें विचारों के शतकोटि अग्निहोत्र राष्ट्र में सदा और सर्वत्र होते रहते हैं। यही प्रक्रिया इतिहास का कभी न रुकनेवाला प्रवाह है। राष्ट्र की भरत-अग्नि अमर है । विविध जन, विविध भाषा और विविध धर्मों को साथ तपाकर एक रूप बनाना उसी की शक्ति है। कई सहस्र वर्षों से उसकी यह अत्यन्त सूक्ष्म रहस्यमयी, राष्ट्र जननेवाली पद्धति चालू रही है। इस प्रकार राज्य, जन और संस्कृति की तीन धाराओं के संगम पर देश का नामकरण भारत प्रसिद्ध हुआ।

बौद्ध-ग्रंथों में कहीं-कहीं भारतवर्ष के लिये जम्बूद्वीप नाम भी मिलता है। पुराणों का जम्बद्वीप भूगोल की बड़ी इकाई है जिसका केवल एक भाग भरतखंड है। दैनिक संकल्प में 'जम्बद्वीपे भरतखंडे' पाठ इसी का सूचक है। इसी भौगोलिक सचाई को देश भर में स्वीकार किया गया। पुराणों में भारतवर्ष के लिये कुमारीद्वीप नाम भी मिलता है।

सिंधु—हिन्दु

देश के नामकरण की दूसरी धारा ऋग्वेदीय 'सिन्धु' शब्द है। ऋग्वेद में सिन्धु उस महान् नद की संज्ञा है जो उत्तर-पश्चिमी भारत के भूगोल की सबसे बड़ी विशेषता है। सिन्धु के इस पार का पंचनद

या वाहीक प्रदेश तो भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत था ही, सिन्धु के पार का वह काँठा भी जहां का पानी ढलकर सिन्धु में आता है और जिसमें कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), गौरी (पंजकोरा), गोमती (गोमल), क्रुमु (कुर्रम) आदि नदियाँ हैं, सदैव भारतीय भूगोल का अंग माना जाता था। गंधार (तक्षशिला से काबुल तक का प्रदेश), कपिश (हिन्दुकुश का प्रदेश, मध्य अफगानिस्तान), कम्बोज (पामीरबदख्शां) आदि अनेक भौगोलिक नाम भरत की देन हैं और उन देशों की प्राचीन संस्कृति भी भारतीय ही थी। भारतवर्ष का जो सबसे प्राचीन साहित्य है उसकी पृष्ठभूमि में कम्बोज, बाल्हीक, कपिश, गंधार, ये निश्चित बिन्दु हैं जिनसे भारतीय हलचलों के तार मिले हुए पाए जाते हैं। महाजनपदों के युग में (१००० ई०पू० से ५०० ई० पू०) जब भुवनकोष की सूचियां संकलित की गईं ये सारे प्रदेश भारतीय भूगोल के अन्तर्गत आते थे। विक्रम की लगभग दसवीं शताब्दी तक सिन्धु के उस पार के देशों से भारत का अटूट सम्बन्ध बना रहा। उस समय सिन्धु महानद उत्तर पश्चिम में भारत के भूगोल की सबसे बड़ी विशेषता थी जिसके कारण बाहर के लोगों ने इस देश का नामकरण किया। भारत नाम की परम्परा स्वदेशी है, जबकि सिन्धु पर आश्रित नाम विदेशियों के रक्खे हुए हैं।

मुसलमानी धर्म के जन्म से भी बारह सौ वर्ष पहले ईरानी सम्राट् द्वारा (प्राचीन रूप दारयवहु, सं० धारयद्वसु) के लेखों में भारतीय प्रदेशों के लिये हिन्दु शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन शषा (आधुनिक सूसा) के राजमहल के लेख में लिखा है—

पिरुष् हचा इदा कर्त हचा कुषू आ उता हचा हिन्दउव् उता हचा हरउवतिया अयरियू। (पंक्ति ४३-४४)।

'(इस राजप्रासाद के लिये) हाथीदांत, जिसपर यहाँ काम किया गया, कुष देश (अबीसीनिया) से, और हिन्दु से, और हरव्हैती (सं० सरस्वती, आधुनिक अरगन्दाब, अफगानिस्तान) से लाया

गया। इसमें हिदउव् शब्द हिन्दु की पंचमी विभक्ति का एक वचन सिन्धोः के बराबर है। उस समय ईरानी भाषा में हमारे देश का यही नाम प्रचलित था, क्योंकि उनका परिचय पश्चिमी भारत के सिन्धु के आस-पास के जनपदों तक ही सीमित था। दारा के अन्य लेखों में 'हिन्दुष्', अर्थात हिन्दु (सं० सिन्धुः) और हिन्दुवअ अर्थात् हिन्दु देश का निवासी (सं० सिन्धुव्य) ये शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। पाणिनि के भूगोल के अनुसार सिन्धु एक जनपद विशेष का नाम भी था, जो आधुनिक सिंध-सागर दोआब है। यह जान लेना चाहिए कि जिसे अब सिन्धु कहते हैं उस प्रान्त का पुराना नाम सौवीर था। प्राचीन सिन्धु जनपद का नाम सिन्धु नदी के किनारे दूर तक फैले हुए होने के कारण पड़ा था। इसलिये यद्यपि एक जनपद विशेष के लिये भी सिन्धु शब्द रूढ़ था, फिर भी उसका रूपान्तर हिन्दु कालक्रम से विदेशी परम्परा के अनुसार सारे देश के लिये प्रयुक्त होने लगा। दारा के लेखों में उसका यही अर्थ जान पड़ता है। हिन्दु से ही देशवाची हिन्द शब्द बना, और फिर जातीयता के आधार पर अफगानिस्तान, बलूचिस्तान की भाँति हिन्दुस्तान नाम भी मध्यकाल में चल पड़ा।

पहलवी भाषा में सासानी राजाओं का एक लेख पैकुली नामक स्थान से मिला है। उसमें भी भारतवर्ष के लिये हिन्दु नाम का व्यवहार हुआ है। यह नाम भारतवर्ष के साहित्यिकों को भी ज्ञात था। निशीथचूर्णि नामक जैन ग्रंथ (रचना संवत् लगभग ७३३) में कालकाचार्य कथा नामक संदर्भ में कहा है कि आचार्य कालक पारस देश में गया और उसने पारसकुल के साहि राजाओं को 'हिन्दुग' देश चलने के लिये कहा (एहि हिन्दुगदेसं वच्चावो)[१]। साहि राजा ने छियानवे साहियों के साथ हिंदुग देश की यात्रा की और वे सौराष्ट्र में बस गए। ज्ञात होता है कि सप्तम शती में भारतीय साहित्यकार भी हिंदुग नाम से परिचित

१. श्री नीलकंठ शास्त्री, फारेन नोटिसेज् आफ सदर्न इंडिया, पृ० १०

हो गए थे। सौराष्ट्र के शक राजाओं के इतिवृत्त से परिचित लोगों में ही यह नाम चालू रहा होगा।

प्राचीन यूनानी भूगोल-लेखकों ने पाँचवीं-चौथी शती ईस्वी पूर्व में इस देश का नाम सिंधु-हिन्दु समीकरण के चालू प्रयोग के आधार पर इंडोस (Indos) लिखा है। अन्त का सकार प्रथमा के एक वचन का चिन्ह है, जैसा सं० सिंधुस् और ईरानी हिंदुष् में भी पाया जाता है। इंडिया, इंडिका आदि नाम इसी से प्रचलित हुए।

चीनी लोगों ने भी सिन्धु नाम की परम्परा का व्यवहार किया। चीनी सेनापति पन्-योङ ने वि० १८२ (१२५ ई०) में चीनी सम्राट् को पश्चिमी देशों का वर्णन भेजते हुए लिखा कि थि-एन्–चु देश, (देवों का देश) शिन्-तु- नाम से भी प्रसिद्ध है। शिन्-तु सिन्धु का ही चीनी रूप है। इसी को चीनी साहित्य में 'इन्–तु–को' भी कहा है जिसमें इन्तु-शिन्तु (सिन्धु) का रूपान्तर है और 'को' का अर्थ देश है[१]।

इन नामों के विषय में यह बात ध्यान देने की है कि स्वयं भारतवासियों ने अपने देश के नामकरण में भारत शब्द से प्रचलित परम्परा को अपनाया, किन्तु विदेशी लेखकों ने सिन्धु शब्दवाले नामों को ग्रहण किया।

---

१. 'इन्-तु-को' नाम की सूचना मुझे श्री शान्तिभिक्षु जी, चीनभवन, शान्ति-निकेतन, से प्राप्त हुई जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

अध्याय ३

भूमि-परिचय

देश की मौलिक एकता का एक सबल आधार यह है कि वहाँ के रहनेवालों को उस भूमि का पूरे रूप में परिचय हो और वे उसे समानरूप से प्यार करते हों। आरम्भ में पृथक्-पृथक् प्रदेशों में बसे हुए मनुष्यों को केवल अपनी सीमाओं के भीतर पृथिवी का परिचय होता है और उसी को वे अपनी मातृभूमि मानकर श्रद्धा अर्पित करते हैं। किन्तु इतिहास मनुष्यों के इस दृष्टिकोण को विस्तृत बनाता है। भारतवर्ष में भी सहस्रों वर्षों की ऐतिहासिक हलचलों के भीतर से मनुष्य उस स्थिति को प्राप्त हुए जिसमें संपूर्ण भूमि की भौगोलिक एकता के साथ उनका परिचय हुआ और उसके फलस्वरूप उनके मनोभाव प्रान्तीय सीमाओं से उठकर समस्त मातृभूमि के साथ मिल सके। भूमि-परिचय की यह प्रक्रिया वस्तुतः भूमि पर बसनेवाले जन के भूत-कालीन इतिहास का ही व्यापक रूप है। जन की भाषा, जन की संस्कृति,

जनके धार्मिक विश्वास और अन्य बहुमुखी जीवन के विकास का पर्यवसान जन के द्वारा भूमि के अन्तरंग परिचय में होता है। उसी का अमृतमय फल भूमि और जन में परस्पर माता-पुत्र के दिव्य संबंध की स्थापना है।

इसमें संदेह नहीं कि शुरू में आर्य जाति का परिचय समस्त देश के साथ एकदम न हो गया था। लेकिन शुरू से ही मातृभूमि के साथ उनकी प्रेम की भावना बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। भूमि को माता और अपने आपको उसका पुत्र समझने की सामूहिक चेतना बहुत ठोस और सच्ची थी। समय पाकर अनेक प्रकार से वह भावना निरन्तर बढ़ती गई। मातृभूमि के साथ प्रेम के इस ऊँचे धरातल की पहली झांकी ऋग्वेद के नदी सूक्त में पाई जाती है:—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति
शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये
शृणुह्या सुषोमया[1] ॥ १०।७५।५ ॥

"**हे गंगा, यमुना, सरस्वती, हे शुतुद्रि, परुष्णी के सहित तुम मेरे स्तोत्र को सुनो। हे मरुद्वृधा और आर्जीकीया असिक्नी वितस्ता और सुषोमा के साथ मेरी स्तुति सुनो।**" गंगा से लेकर सिन्धु तक का समस्त प्रदेश ऋग्वेद कालीन भारतवर्ष के अन्तर्गत था। इसीमें गंगा और सिन्धु का समस्त प्रस्रवण क्षेत्र सम्मिलित था। पूर्वी काश्मीर के कष्टवार प्रदेश की मरुद्वृधा नदी उत्तर की ओर देश के विस्तार को आज की तरह उस समय भी सूचित करती थी। वस्तुतः ऋग्वेदकालीन भारतवर्ष की सीमाएँ उत्तर-पश्चिम में सिन्धु के उस पार कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात) नदियों तक बढ़ी हुई थी।

---

(१) **शुतुद्रि-सतलज। परुष्णी-रावी। असिक्नी-चनाब। मरुद्वृधा-कश्मीर के कष्टवार प्रदेश की मरुवर्द्वान नदी जो चनाब में मिलती है। वितस्ता-झेलम। आर्जीकीया-विपाशा या व्यास। सुषोमा-अटक जिले में सिन्धु की सहायक सोहन नदी।**

उत्तर वैदिक काल में भूमि के साथ आर्य जाति का परिचय और अधिक विस्तार को प्राप्त हुआ। शतपथ ब्राह्मण में एक प्राचीन अनुश्रुति है कि पूर्वकाल में सदानीरा नदी तक ब्राह्मणों का क्षेत्र था। उसके उस पार का देश ब्राह्मणों के लिये अक्षेत्र था क्योंकि वहाँ वैश्वानर अग्नि की स्थापना नहीं हुई थी। एक विदेध माथव नाम के ऋषि थे। उन्होंने सरस्वती के किनारे प्रज्वलित अग्नि को देखा। अग्नि का वहो पुंज पूर्व की ओर बढ़ता हुआ चला और सब नदियों को अपने तेज से प्रज्वलित करता हुआ सदानीरा तक बढ़ गया जो उत्तरी पर्वत से निकलकर बहती है। इस प्रकार वह क्षेत्र भी ब्राह्मणों के लिये खुल गया और यज्ञों के द्वारा आत्मानुकूल (स्वदितस्वादिष्ट) बनाया गया। इस प्रकार विदेघ माथव के द्वारा उपनिवेश क्षेत्र में सम्मिलित वह प्रदेश 'प्राचीन भुवन' अर्थात् प्राच्य-देश कहलाया। वह सदानीरा नदी कोसल और विदेह जनपदों के बीच में वहती थी। (श० १।४।१)

इस प्रकार देश-विस्तार की उत्तरोत्तर सीढ़ियाँ और भी हुई होंगी। मनुस्मृति में उनकी एक झलक मिलती है। पहले सरस्वती और दृषद्वती के बीच की भूमि ब्रह्मावर्त[१] कहलाती थी। वह स्थान इतना पवित्र था कि उसे लोग देवनिर्मित देश समझते थे। उस देश का आचार सब के लिये सदाचार का आदर्श था[२]।

ब्रह्मावर्त की पुण्यभूमि का विस्तार ब्रह्मर्षि देश के रूप में हुआ जिसमें कुरुक्षेत्र, मत्स्य[३], शूरसेन[४] और पंचाल[५] के जनपद सम्मिलित

(१) सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ मनु० २।१७।

(२) तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः। वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ (मनु० २।१८)

(३) मत्स्य = जयपुर, अलवर आदि का प्रदेश।

(४) शूरसेन = मथुरा, आगरा, अलीगढ़।

(५) पंचाल = कन्नौज, फरुखाबाद, बरेली।

हुए। गंगा-यमुना के ऊपरी कांठे का यह देश मनु की दृष्टि से अत्यन्त पवित्र था। इसी के लिये यह कहा गया है कि यहाँ के शिष्ट अग्र-जन्मा पुरुषों का सदाचार पृथिवी के समस्त मानवों के लिये शिक्षा का मानदण्ड था[1]। इस आचार के कारण ही स्थूल भौगोलिक पृथिवी को पुण्यभूमि की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। ब्रह्मवादी ऋषियों और धर्म परायण जीवन में प्रवृत्त स्त्री-पुरुषों के सामूहिक प्रयत्नों से ब्रह्मर्षि-देश में भारतवर्ष के त्याग और तपः प्रधान आदर्शों का उच्च हिमालय प्रतिष्ठित हुआ। उसके शिखरों से निकलनेवाली प्रेरणाएँ चारों दिशाओं में फैलीं। एक प्रकार से यह प्रदेश मातृभूमि का हृदय बन गया। आद्य युग में भूसन्निवेश के लिये इस प्रकार के आदर्श हृदयस्थानीय प्रदेश की कल्पना से केंद्र से बाहर जाकर फैलने वाले जन को बहुत बल प्राप्त होता है।

क्रमिक देश-विस्तार की सीढ़ी मनु का मध्य देश है। उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य, पश्चिम में विनशन (सरस्वती नदी के मरुभूमि में अदृश्य हो जाने का प्रदेश उत्तरी राजस्थान) और पूर्व में प्रयाग ये मध्य देश की सीमाएँ थीं। पीछे चलकर संभवतः जब विदेथ माथव नें सदानीरा[2] नदी के उस पार आर्यक्षेत्र का विस्तार किया तो इस मध्य देश का विस्तार भी मगध तक हो गया। बाद के बौद्ध साहित्य में मध्य देश का विस्तार बराबर विहार तक समझा जाता था।

इस प्रकार पूर्व और पश्चिम की ओर जब आर्यों के उपनिवेश

---

(१) एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २।२०)

(२) इसकी ठीक पहचान राप्ती नदी है, राप्ती का पुराना नाम इरावती था। इरावती और सदानीरा में अर्थसाम्य है। महाभारत के सभापर्व में गंडक और सरयू के बीच में सदानीरा का वर्णन है जो राप्ती ही हो सकती है।

बढ़ते गए तो वे एक ओर तो पूर्ववाहिनी गंगा के किनारे-किनारे पूर्व समुद्र तक फैल गए और दूसरी ओर पश्चिम में प्राचीन सौवीर (आधुनिक सिन्ध) एवं आनर्त (गुजरात-काठियावाड़) तक के भूमिखंड से उनका परिचय हो गया। यह स्थिति पाणिनिकाल (५वीं शती ई० पूर्व) से पहले ही हो चुकी थी। पाणिनि काल में सौवीर से सूरमस (असम की सूरमा नदी की घाटी) तक का प्रदेश आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत आ गया था। देश के इस क्रमिक विस्तार से पुण्यभूमि का जो स्वरूप स्थिर हुआ उसकी संज्ञा 'आर्यावर्त्त' थी। मनु के अनुसार आर्यावर्त[1] की परिभाषा में हिमालय और विन्ध्य पर्वत एवं पूर्व तथा पश्चिमी समुद्रों की भूमि सम्मिलित है। इस समय तक पूर्वी समुद्र के किनारे पर गंगासागर संगम एवं कलिंग में आर्य उपनिवेश स्थापित हो गए थे। देश-विस्तार की इस श्रृंखला में नये नगर और तीर्थों का निर्माण होता गया जिनके नाम प्रायः संस्कृत शब्दों से रक्खे गए। उन्हीं नगरों के चारों ओर देहातों के अधिकांश नाम प्राचीन निषाद भाषा से संबंधित मिलेंगे जिनके मध्य में होकर आर्य संस्कृति की सन्निवेश धारा आगे बढ़ गई थी। जन प्रसार के केंद्र अधिकतर तीर्थरूप में प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। उस-उस क्षेत्र में संस्कृति के अनेकों रूपों के भी केंद्र बने और आर्थिक और राजनैतिक जीवन के सूत्र भी उन्हीं केंद्रों से संचालित होने लगे।

इस प्रकार क्रमशः भूमि के साथ जन के संबंध का विस्तार इतिहास के दीर्घकालीन युगों में पूरा हुआ और अन्त में देश की भौगोलिक इकाई की इस परिभाषा का जन्म हुआ—

आ हिमवत आ कुमार्या भारतवर्षम्

(पैठीनस)

---

(१) आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्यो रार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥

(मनु० २।२२)

अर्थात् हिमालय से कन्याकुमारी तक की भौगोलिक इकाई की संज्ञा भारतवर्ष[1] है।

जिस समय सारा देश इस प्रकार की एकसूत्रता में बंध चुका था उस समय की भौगोलिक स्थिति का परिचय देने वाले भुवनकोश नामक विशेष संग्रहात्मक अध्याय प्राचीन पुराण साहित्य में मिलतेहैं, जैसे मत्स्य-पुराण (अ० ११४), वायुपुराण (अ० ४५), मार्कण्डेय पुराण (अ० ५७), ब्रह्मांड-पुराण (अ० ४९), कूर्मपुराण (अ०४७), विष्णु-पुराण (खं०२, अ०३), वराहपुराण (अ ०८५) वामन-पुराण (अ० १३) और गरुड़ पुराण। इनमें मत्स्य-पुराण की सूची सब से प्राचीन है। भारतीय भुवन-कोश का एक विस्तृत संस्करण महाभारत में भी पाया जाता है। भीष्मपर्व में जब कौरव-पांडवों की सेनाएँ युद्ध के लिये आमने-सामने खड़ी हो गईं तब धृतराष्ट्र के पूछने पर संजय ने भारतवर्ष के भूगोल का विस्तार से वर्णन किया है। इसमें मुख्यतः पर्वत, नदी और जनपदों के नामों की सूचियाँ हैं। इन तीनों के अध्ययन से यही परिणाम निकलता है कि भौगोलिक दृष्टि से हिमालय से समुद्रपर्यन्त तक का भूभाग भारतवर्ष के अन्तर्गत था और

---

(१) इसी से मिलती-जुलती वह परिभाषा है जिसमें लंकास्थित त्रिकूट-पर्वत और उत्तर के हिमवान् के बीच का क्षेत्र भारतवर्ष माना गया—

त्रिकूट हिमवदन्तर्वर्षो भारत उच्यते। (अपराजित पृच्छा ३७।७)
अथवा इसे ही और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भारतवर्ष उस क्षेत्र की संज्ञा है जो त्रिकूट से हिमाद्रि तक विस्तृत है, जिसके उत्तर में हिमवान् का लम्बा डंडा खिंचा है, और दक्षिण में पूर्व पश्चिम के दोनों समुद्र जिसके अभिन्न अंग हैं——आत्रिकूटं हिमा यन्तं योजनैः शतपंचभिः। पूर्वापरौ तोयनिधी हिमदण्डश्च भारते॥ अपराजितपृच्छा ३८।१९

पश्चिम एवं उत्तर में इसकी सीमाएँ अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक थीं।

प्राचीन भौगोलिक परिभाषा के अनुसार पर्वत दो प्रकार के कहे गए हैं--एक वर्षपर्वत और दूसरे कुलपर्वत। वर्षपर्वत एक वर्ष या बड़े भूखंड को दूसरे वर्ष से अलग करते हैं। इनकी संख्या ज्ञात है--हिमवान्, हेमकूट (कैलास), निषध, मेरु (पामीर), चैत्र, कर्णी और शृंगवान्[1]। इनमें से सब नामों की पहचान अभी संभव नहीं हुई, किन्तु हेमकूट की पहचान कैलास के साथ और मेरु की पामीर के साथ प्रायः निश्चित है। हिमवान और मेरु भारत की उत्तरी सीमा बनाते हुए उसे एशिया के दूसरे प्रदेशों से पृथक् करते हैं। इससे यह महत्त्वपूर्ण सचाई प्रकट होती है कि प्राचीन भारतवासी कैलास और पामीर प्रदेश को अपने देश की भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत मानते थे। अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा वंक्षु नदी लगभग २००० वर्षों तक (चन्द्रगुप्त के समय से औरंगजेब के समय तक) भारतवर्ष की राजनैतिक सीमा बनाती रही थी। उसके आसपास के प्रदेश कम्बोज जनपद और वंक्षु नदी की गणना भुवनकोश की सूची में है।

कुलपर्वत वे हैं जो देश के भीतर ही उसकी प्रादेशिक सीमाएँ सूचित करते हैं। ये भी सात हैं[2]। इनमें से कलिंग या उड़ीसा से शुरू होनेवाली पूर्वी घाट की पर्वत शृंखला का पुराना नाम महेन्द्र था। आज भी गंजम के समीप वह 'महेन्द्र मलै' कहलाता है। मलय दक्षिण भारत के पर्वतों की संज्ञा थी जिसमें 'नल्लमलै', 'अन्नमलै' और 'एलामलै' आदि कावेरी के दक्षिण की चोटियाँ सम्मिलित थीं। सह्याद्रि उत्तर से दक्षिण तक फैला हुआ पश्चिमी घाट का प्रसिद्ध

---

(१) **हिमवान् हेमकूटश्च निषधो मेरु रेवच। चैत्रः कर्णी च शृंगी च सप्तैते वर्ष पर्वताः॥**

(२) **महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुल पर्वताः॥** (भीष्म० ९।११)

पर्वत है जो आज भी सारे महाराष्ट्र और कन्नड में इसी नाम से प्रसिद्ध है। शुक्तिमान्, ऋक्ष और पारियात्र इन तीन नामों की निश्चित पहचान करना भारतीय भूगोल के लिये अत्यन्त आवश्यक है। शुक्तिमान् सह्याद्रि के उत्तरी छोर से कुछ पहले पूर्व की ओर बढ़ी हुई उसकी बाहियाँ ज्ञात होती हैं, जिसमें खानदेश की पहाड़ियाँ अजन्ता एवं काफी भीतर घुसा हुआ हैदराबाद गोलकुण्डा पठार भी सम्मिलित हैं। वर्त्तमान खानदेश का पुराना नाम ऋषिक था। शुक्तिमान् पर्वत से निकलनेवाली नदियों में ऋषिका नदी मुख्य है। ऋषिका ऋषिक जनपद में बहनेवाली ही कोई नदी होनी चाहिए। ऋक्ष पर्वत सह्याद्रि के ठीक उत्तरी छोर ताप्ती के दाएं किनारे पर वर्तमान सतपुड़ा से लगाकर महादेव पहाड़ियों के पूर्वी सिलसिले तक की कुल पर्वत शृंखला का नाम था। मध्य प्रान्त की इस गाँठ से निकलने वाली नदियों में ताप्ती, वेण्या (वेनगंगा) इस पहचान को पुष्ट करती हैं। उड़ीसा की ब्राह्मणी और वैतरणी नदी का उद्गम भी ऋक्ष पर्वत से था। इससे ज्ञात होता है कि छोटा नागपुर की पहाड़ियों का रांची तक बढ़ा हुआ सिलसिला ऋक्ष पर्वत के ही अन्तर्गत था। ऋक्ष के पूर्वी छोर से उत्तर की ओर घूमकर नर्मदा के उत्तर की पर्वत शृंखला विन्ध्याचल है जिससे शोण, नर्मदा, महानदी, मध्यभारत की टौंस (तमसा) और धसान (दशार्ण) आदि नदियाँ जो सोन और सिन्ध के बीच में बिखरी हुई हैं निकलती हैं। भारतवर्ष के भीतर के कुल पर्वतों में जो दक्षिणी पठार की सीमाओं पर और उसके भीतर फैले हुए हैं प्रायः सबकी पहचान इन छः नामों में आ जाती है। अब केवल एक नाम 'पारियात्र' और एक ही पहाड़ी बच जाती है और वह है अड़ावला पहाड़ी। श्री पार्जीटर ने प्रमाणित किया है कि भूपाल से पश्चिम विन्ध्याचल के पश्चिमी भाग से लेकर राजपूताने के अड़ा-वला पहाड़ तक का सिलसिला पारियात्र था जैसा कि उससे निकलने-वाली नदियों के नामों से निश्चित रूप में ज्ञात होता है। इनमें पर्णाशा

(बनास नदी), चर्मण्वती (चम्बल), मही, पार्वती और वेत्रवती (बेतवा) मुख्य हैं जो अभी तक पुराने नामों से प्रसिद्ध हैं और इस कारण पारियात्र और अड़ावला की पहचान का निश्चित संकेत देती हैं।

इन सात कुल पर्वतों और उनसे निकलनेवाली नदियों का सूक्ष्म परिचय बताता है कि आर्यावर्त के अतिरिक्त देश का जो दक्षिणी भूखंड था उससे भी भूमि पर बसनेवाला जन भली भाँति अपना संबंध स्थापित कर चुका था। भूमि और जन के पारस्परिक संबंध की एक अच्छी कसौटी भूमि के पर्वत और नदियों का नामकरण है।

भारतभूमि के पूरे परिचय की एक मजबूत कड़ी महाभारत की नदी सूची है जिसमें लगभग एक सौ साठ नाम हैं, इनमें से कुछ नाम जिनकी पहचान संभव है इस प्रकार हैं—

गंगा, सिन्धु, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, महानदी, कावेरी, शतद्रु (सतलज), चन्द्रभागा (चनाब), यमुना, दृषद्वती (सरस्वती और यमुना के बीच में कुरुक्षेत्र की चितांग नदी), वितस्ता (जेहलम), देविका (जम्मू से आनेवाली रावी की शाखा देग नदी), वेत्रवती (बेतवा), कृष्णवेणा (गोदावरी की शाखा बेनगंगा), वेदस्मृता (अपरनाम वेदश्रुति; बिसुई नदी जो कोसल जनपद में गोमती से १५ मील पर एक छोटी नदी है और जिसे श्रीराम ने अपनी वनवास यात्रा में तमसा और गोमती के बीच में पार किया था), करीषिणी (बाघपत की करीसन नदी), गोमती, इक्षुला (इक्षुमती या ईखन नदी, फर्रुखाबाद जिला), सरयू, रथस्था (रथवाहिनी, रामगंगा का प्राचीन नाम जिसे पहाड़ में अब भी 'रुहुत' कहते हैं), कौशिकी (कोसी) शतकुम्भा (गंगा और सरयू के बीच की छोटी नदी, वन०२१२–२१–२२४), चर्मण्वती (चम्बल), भीमरथी (भीमा), ओघवती (सरस्वती की शाखा मार्कंडा), सदानीरा (राप्ती), गौरी (पश्चिमोत्तर प्रान्त की पंजकोरा नदी जो स्वात में मिलती है), सुवस्त्रा (स्वात), वरा (पेशावर की बारा नदी)

पंचमी (पंजशीर), तुंगवेणा (तुंगभद्रा), विदिशा (बेतवा की छोटी शाखा नदी जिसके किनारे भेलसा है), ताम्रा (कौशिकी की शाखा तामड़ नदी), शोणा, तमसा (टोंस), वराणसी (बरना और असी), पर्णाशा (बनास), मन्दाकिनी, वैतरणी (उड़ीसा की बैतरणी), कोषा (उड़ीसा की कोसी), लोहित्या (ब्रह्मपुत्र की शाखा नदी) करतोया (बंगाल की इसी नाम की नदी), ऋषिकुल्या (इसी नाम से प्रसिद्ध जिसके तट पर गंजम नगर है।

इस सूची से ज्ञात होता है कि गन्धार की सुवास्तु नदी से असम की लौहित्य नदी, उड़ीसा की ऋषिकुल्या और वैतरणी, दक्षिण की तुंगभद्रा और पश्चिम की बनास नदी की परिक्रमा के अन्तर्गत समस्त भूखंड भारतीय भूगोल का अभिन्न अंग समझा जाता था। यह कहा गया है कि ये नदियाँ सबकी माता हैं[1] अर्थात् इनका वरदान सबके लिये है। आर्य और म्लेच्छ[2] और अनेक मिश्रित जातियों के लोग इन नदियों का जल पीते हैं। इस प्रकार जन का भूमि के साथ शाश्वत और निर्बाध संबंध स्थापित हो चुका था। आर्य और आर्येतर अन्य निषाद म्लेच्छ आदिक जातियाँ इस भूमि पर बसी हैं, यह प्रतीति प्राचीन काल के लोक-मानस में भली प्रकार व्याप्त हो गई थी। मातृभूमि के साथ सबका समान संबंध है और इस कारण समान अधिकार भी है। इसे ही प्रतीक भाषा में इस भांति कहा गया है कि आर्य म्लेच्छ और मिश्रवर्ण के लोग सब इन नदियों का जल पीते हैं। राजा के राज्याभिषेक के लिये इन सब नदियों से अभिषेक का पवित्र

(१) **विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः।**
इत्येताः सरितो राजन्समाख्याता यथास्मृति ॥
(भीष्म० ९।३७।३८)

(२) **आर्या म्लेच्छाश्च कौरव्य तैर्मिश्राः पुरुषा विभो।**
नदीः पिबन्ति विपुलां गंगां सिन्धुं सरस्वतीम् ॥
(भीष्म० ९।१३-१४)

जल लाया जाता था जो प्रत्येक भाग की सम्मति का प्रतीक था। पृथिवी पर बने हुए जो लंबे राजमार्ग हैं वे उसके दूरस्थ भागों को एक दूसरे से मिलाते हैं, उनपर भी इसी तरह के समानाधिकार की बात पृथिवी-सूक्त में कही गई है—

ये ते पन्थानो बहवो जनायना
रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं
जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ।।
(अथर्व० १२।१।४७)

भारतभूमि का सर्वोत्तम परिचय उसके जनपदों के रूप में प्राप्त होता है। जनपद प्राचीन समय में विकसित होनेवाले जातीय और सांस्कृतिक जीवन की स्थानीय इकाइयाँ थीं। आज भी इनमें से अधिकांश नाम भौगोलिक सचाई के रूप में जीवित हैं। पश्चिम से पूर्व तक जनपदों का ताँता चला गया था। वस्तुतः देश का शायद ही कोई ऐसा प्रदेश या भाग मिलेगा जिसका नामकरण जनपद के रूप में न हुआ हो। प्रायः दो पड़ोसी जनपदों के नामों के भौगोलिक जोड़े भाषा में प्रसिद्ध हो जाते थे, जैसे—कुरु-पंचाल, काशि-कोसल, अंग-मगध, गन्धार-केकय, सिन्धु-सौवीर, कपिश-कम्बोज आदि। प्राचीन भुवन कोशों के अनुसार भारतीय जनपदों का सिलसिला कम्बोज से शुरू होता है कम्बोज की ठीक पहचान पामीर प्रदेश है। कम्बोज की राजधानी का नाम बौद्धग्रन्थों में द्वारका था। इसे इस समय दरवाज़ कहते हैं। प्राचीन भूगोल-शास्त्रियों की दृष्टि में द्वारका या दरवाज़ मध्य एशिया के पठारों से उतरते वंक्षु नदी पार करके भारत में प्रवेश करने का दरवाजा था। महाभारत में बराबर कम्बोज को भारतीय जनपद मानकर उसका वर्णन किया गया है। कम्बोज प्रदेश की भाषा आर्य-परिवार की है। यास्क ने निरुक्त में और पतंजलि ने महाभाष्य में कम्बोज जनपद की भाषा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनके यहाँ 'शव' धातु का

प्रयोग 'जाने' के अर्थ में होता था जो आज भी एक सचाई है। वंक्षु नदी का पूर्वार्ध कम्बोज जनपद का प्रदेश था, आज जहाँ गल्चा भाषा-भाषी जातियाँ रहती हैं। वंक्षु नदी के बड़े उत्तरी मोड़ के पास मुंजानी कबीले के लोग आबाद हैं जो पुराने समय में मौंजायन कहलाते हैं। पाणिनि ने तीन सूत्रों के गण-पाठ में मौंजायन लोगों का उल्लेख किया है[1]। वैदिक काल में यही प्रदेश मूजवन्त कहलाता था (यजु० ३।६१; अथर्व० ५।२२।५) जो बाल्हिक के पड़ोस में था। कम्बोज से कपिशा में घुसने का मार्ग मुंजान में होकर गया है। वंक्षु नदी के दक्षिण का बड़ा प्रदेश एक प्रकार से भारतवर्ष के प्रहरियों का कोठा है। भारतवर्ष से बाहर निकलने का महान् उत्तर-पथ तक्षशिला, उद्भांड (सिन्धु के तट पर वर्तमान हुंड), पुष्कलावती (वर्तमान चारसद्दा), नगरहार (जलालाबाद), कपिशा (काफ़िरिस्तान), बामियान, बाल्हीक (बल्ख) की राजधानियों को मिलाता हुआ पूरब में चीन और पच्छिम में एशिया योरुप तक चला जाता था। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के नकशे पर निगाह डालने से गन्धार, कपिश, बाल्हीक और कम्बोज इन चार महाजनपदों का एक चौगड्डा नजर आता है। नकशे में इनकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हिन्दुकुश के उत्तर-पूर्व में कंबोज उत्तर-पच्छिम में बाल्हीक, दक्षिण-पश्चिम में कपिश, और दक्षिण-पूर्व में गन्धार था। वंक्षु के दक्षिण का भाग भी तीन जनपदों में बँटा हुआ था। हिन्दुकुश और वंक्षु के बीच का बड़ा जनपद बाल्हीक था जो अभी तक बल्ख के नाम से प्रसिद्ध है। इसका पूर्वी भाग दो छोटे जनपदों में बँटा था। मुंजान के थोड़ा उत्तर जिसे आजकल बदख्शां कहते हैं पहले 'द्वचक्ष' कहलाता था और जिसे आजकल कुंदूज कहते हैं उसका पुराना नाम कुन्दमान था। बाल्हीक से एक मार्ग दक्षिण होता

---

(१) दामन्यादि ५।३।११६ (मौंजायनीय);
शार्ङ्गरवादि, ४।१।७३ (मौंजायनी);
नडादि, ४।१।९९ (मौंजायन)।

हुआ बामियाँ की घाटी में उतरता था। यहीं पर मध्य एशिया से आने वाले यात्रियों के स्वागत के लिये पहाड़ में काटकर दो विशाल बुद्ध प्रतिमाएँ बनाई गई थीं। बामियाँ के बाद प्रसिद्ध जनपद कपिश था जिसका वर्तमान नाम काफ़िरिस्तान है। इसकी राजधानी कपिशा (आधुनिक बेग्राम) थी जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है। कपिश के बाद उससे मिला हुआ बड़ा जनपद गन्धार था। गन्धार जनपद कुनड़ या काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। सिन्ध नदी इसको दो हिस्सों में बाँटती थी, पश्चिमी गन्धार जिसकी राजधानी पुष्कलावती (वर्तमान चारसद्दा) थी और पूर्वी गान्धार जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। मार्कण्डेय पुराण में 'पुष्कलाः' जनपद का नाम आया है (५७।५९) जिसका स्थान पुष्कलावती होना चाहिए। पुष्कलावती काबुल और पंजकोरा नदी के संगम पर स्थित था। पंजकोरा का प्राचीन नाम गौरी नदी है। गौरी की ही शाखा नदी स्वात है जिसे प्राचीन काल में सुवास्तु कहते थे। सुवास्तु और गौरी नदियों के बीच में उड्डियान प्रदेश था जो गन्धार का ही एक भाग समझा जाता था। उड्डियान के बने हुए चटकीले लाल किनारोंवाले पांडु कम्बल जातकों के समय में उत्तर भारत में सैनिक इस्तेमाल के लिये आते थे। वस्तुतः गन्धार और उत्तरी भारत के व्यापारिक सम्बन्ध और भी कितने ही क्षेत्रों में घनिष्ठ थे। वैदिक समय से ही गन्धार का ऊनी माल भारत में प्रसिद्ध हो गया था। कुनड़ या चित्राल नदी के उत्तरी हिस्से में चित्रक जनपद था जो वहां रहनेवाले कबीले का नाम होना चाहिए। चित्राल और पंजकोरा या गौरी नदी के बीच का प्रदेश आजकल 'दीर' कहलाता है। प्राचीनकाल में इसका नाम 'द्वीरावतीक (दो नदियों के बीच का प्रदेश) था। दीर के दक्षिण और काबुल नदी के उत्तरी किनारे पर मोहमन्द कबीले बसते हैं जिन्हें महाभारत (भीष्म० ९।५३) और पाणिनि (४।३।९३) में मधुमन्त कहा गया है। काबुल नदी के दक्षिण मोहमन्दों के पड़ोसी अफ़रीदी लोग रहते हैं, इनका इलाका 'तीरा' कहलाता है। अफ्रीदियों

का पुराना संस्कृत नाम 'आप्रीत' था। आज भी वे लोग अपने को 'आप्रीदी' ही कहते हैं। तीरा पुराने समय में 'त्रीरावतीक' देश था (महाभाष्य १।४।१; वा० १९)। कुभा (काबुल), वरा (वारा नदी जिसपर पेशावर है) और सिन्धु इन तीन नदियों के बीच में होने के कारण यह हिस्सा त्रीरावतीक कहलाता था।

पुराणों में भुवन-कोशों की उदीच्य देशों की सूची में लम्पाक (लग्रमान), चूलिक (काशगर), और जागुड़ (गजनी) ये तीन नाम और भी आते हैं।

कश्मीर के उत्तर-पश्चिम में गिलगित-यासीन का प्रदेश इस समय दर्दिस्तान और पहले दरद् कहलाता था। पूर्वी काश्मीर से आती हुई सिन्धु नदी दरद् जनपद के बीच से बहकर दक्षिण की ओर मुड़ कर पहले-पहल पहाड़ों से मैदान में उतरती है। दरद् जनपद की पैशाची बोली थी; उसमें लिखी गई बृहत्कथा समस्त भारतीय कथा-साहित्य की खान थी जिसके कितने ही रूपान्तर संस्कृत और प्राकृत में पाए जाते हैं।

गिलगित के उत्तर में हुंजा प्रदेश है, इसका पुराना नाम जनपदों की सूची के अनुसार हंसमार्ग ज्ञात होता है। आज भी हंस जाति के पक्षियों के लिये मध्य एशिया और भारत के बीच आने-जाने का यह एक ऐसा रास्ता है जिसमें होकर आकाश मार्ग से उनकी नदी सी बहती है। काश्मीर स्वयं एक महाजनपद था और इस घाटी के दक्षिण 'दार्व' और 'अभिसार' नामक दो छोटे जनपद थे। काश्मीर घाटी के पूरब के पहाड़ों से बाहर कष्टवार के उत्तर मरुवर्द्धान नदी की घाटी है, जिससे आर्य लोग ऋग्वेद के समय में ही परिचित हो चुके थे (ऋ० १०।७५।५, मरुद्वृधा नदी)।

सिन्ध के पूर्वी किनारे से सतलज तक के प्रदेश का पुराना नाम 'वाहीक' था। यह प्रदेश विभिन्न जातियों और कबीलों की खान है। मोटे तौर पर यहाँ का जनपदीय संस्थान इस प्रकार है। सिन्धु से जेहलम तक का इलाका पूर्वी गन्धार जानपद था, उसकी राजधानी तक्षशिला थी। इसीके

बीचोंबीच सोहन नदी बहती है, जिसका ऋग्वेद में सुषोमा नाम आता है। सिन्ध और जेहलम के बीच में पूर्वी गन्धार के दक्षिण का सिन्ध-सागरदोआबा पुराने समय में सिन्धु जनपद कहलाता था। आज जिसे सिन्ध कहते हैं उसका पुराना नाम सौवीर था। सिन्धु-सौवीर नामों का जोड़ा प्रायः साहित्य में मिलता है। जेहलम और चनाब नदियों के बीच में केकय जनपद था। आजकल के शाहपुर (सरगोधा) और गुजरात जिले उस में शामिल हैं। चनाब के पूरब उत्तरी पंजाब का सबसे प्रसिद्ध जनपद मद्र था,। इसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी जो आपगा (वर्तमान अयक) नदी के किनारे है। मद्र महाजनपद के दो भाग थे पूर्व मद्र और अपरमद्र। आधुनिक झंग-मघयाना और उसके नीचे रावी और चनाब के बीच का प्रदेश प्रीचन उशीनर था, इसे ही शिबि जनपद भी कहते थे जिसकी राजधानी शिबिपुर (शोरकोट) थी।

रावी के पूर्व में हिमालय तक फैला हुआ पहाड़ी इलाका प्राचीन त्रिगर्त देश था जो रावी ब्यास और सतलज की तीन नदी दूनों को मिला कर बना था, इसका पुराना नाम जालन्धरायण भी था। अब भी त्रिगर्त कांगड़ा का प्रदेश जालन्धर कहलाता है। यहाँ सदा से छोटे-छोटे रजवाड़ों का अस्तित्व रहा है। पाणिनि ने त्रिगर्त देश के छः संघ राज्यों का उल्लेख किया है। महाभारत के अनुसार त्रिगर्त के संसप्तकों की सेना दुर्योधन की ओर से लड़ी थी। पूर्वी पंजाब की सब से बड़ी भौगोलिक इकाई कुरु जनपद थी। वस्तुतः इसके तीन हिस्से थे—कुरुराष्ट्र, कुरुक्षेत्र और कुरु-जांगल। ये तीन इलाके एक-दूसरे से सटे हुए थे। थानेश्वर के चारों ओर का प्रदेश कुरुक्षेत्र, हिसार का कुरुजांगल और हस्तिनापुर का कुरुराष्ट्र था। मोटे तौर पर सरस्वती से गंगा तक का प्रदेश कुरु जनपद के अन्तर्गत था। गंगा-यमुना के बीच का लगभग मेरठ कमिश्नरी का इलाका असली कुरुराष्ट्र था, इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। भारतीय इतिहास में कुरु-जनपद का राजनैतिक महत्त्व और सांस्कृतिक प्रभाव दीर्घकाल तक सर्वोपरि रहा। उदीच्य और प्राच्य के बीच की जो विभाजक भूमि है

उसके अन्तर्गत होने के कारण कुरुदेश का भौगोलिक महत्त्व बहुत बढ़ा-चढ़ा था। एक प्रकार से उत्तरापथ के चक्र का यह मध्य बिन्दु जान पड़ता है जिसके प्रभाव की किरणें पंजाब, उत्तरप्रदेश और राजस्थान पर समानरूप से पड़ती थीं। पूर्व और पश्चिम को मिलानेवाले व्यापारिक रास्ते और सैनिक प्रयाण के मार्ग कुरुजनपद के मध्य से गुजरते थे। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण से सब प्रकार के प्रभाव इस मध्य-विन्धु पर केन्द्रित होते हैं। गंगा-यमुना के कांठों के बीच का यह भाग 'अन्तर्वेदि' कहलाता था। शकुन्तला के पुत्र दौष्यन्ति भरत का जन्म हस्तिनापुर के पास गंगा के उस पार जहाँ मालिन (प्राचीन मालिनी) नदी गंगा में मिलती है, हुआ था। यहीं कण्व-आश्रम था। हस्तिनापुर को केन्द्र बनाकर भरत ने अपने राजनैतिक चक्र का विस्तार किया। उसने यमुना के किनारे-किनारे ७८ और गंगा के किनारे-किनारे ५५ यज्ञ करके समस्त पृथिवी को जीत कर अपने चक्र में मिलाया[१]। भरत के द्वारा भारत नाम की व्युत्पत्ति हम देख चुके हैं।

मध्यदेश के मुख्य जनपद ये हैं—

पंचाल (बरेली से कन्नौज तक गंगा के दोनों ओर का प्रदेश), शूरसेन (मथुरा), शाल्व (अलवर से बीकानेर तक उत्तरी राजस्थान का भाग), मत्स्य (जयपुर, जिसकी राजधानी विराट आधुनिक बैराट थी), किरात (सम्भवतः नैपाल), काशि-कोसल (दो जनपद जो उत्तरप्रदेश के मध्य और पूर्वी भाग के अधिकांश क्षेत्र में फैले हुए हैं)। भुवनकोश के अनुसार मगध और अंग की गणना भी मध्यदेश के जनपदों में होती थी। अर्बुद (आबू और अड़ावली पहाड़ का प्रदेश) भी मध्यदेश में

(१) **भरतो दौष्यन्तिः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयाय।**
अष्टासप्ततिं भरतो दौष्यन्तिर्यमुनामनु। गंगायां वृत्रघ्नेऽबध्नात् पंच पंचाशतं हयान्। (एतरेय० ८।२३)
परः सहस्रान् इन्द्रायाश्वान् मेध्यान् य आहरद् विजित्य पृथिवीं सर्वा मिति। (शतपथ० १३।५।४।१३)

सम्मिलित था। मध्यदेश में और भी छोटे-मोटे जनपदों के नाम पाए जाते हैं जैसे वत्स (प्रयाग कौशाम्बी का क्षेत्र), कुन्ति (चम्बल और सिन्ध नदी के बीच का कोंतवार प्रदेश) ।

जनपदों की गिनती करते हुए समस्त देश को मोटे तौर पर इतने हिस्सों में बाँटा गया है——उदीच्य, मध्यदेश, प्राच्य, दक्षिण, अपरान्त, विन्ध्य और पर्वतीय प्रदेश । मध्यदेश में लगभग उत्तरप्रदेश और बिहार शामिल थे । प्राच्य जनपदों में मुख्य नाम ये हैं——अंग (गंगा के उत्तर-दक्षिण भागलपुर का इलाका जिसमें मुंगेर भी शामिल है) । बिहार में गंगा के उत्तर विदेह और मिथिला का प्रदेश पूरी तरह आर्यों के भूसन्निवेश के अन्तर्गत आ चुका था । दक्षिण में मगध जनपद (आधुनिक बिहार, गया और राजगृह) जरासन्ध के बाद से आर्य क्षेत्र बन गया, किन्तु उसके दक्षिण पहाड़ों का इलाका प्रायः निषाद जातियों से भरा हुआ था। राजगृह में मणिनाग और जरा यक्षी की पूजा निषाद संस्कृति की बची-खुची परम्पराओं का संकेत करती है । मध्यदेश से प्राच्य जाने के लिये अयोध्या से श्रावस्ती होता हुआ मुख्यतः गंगा के उत्तर का रास्ता था । मिथिला से दक्षिण मुड़कर गंगा पार करता हुआ यही मार्ग मगध में घुसता था और दूसरी ओर गंगा के किनारे उत्तरी बंगाल में प्रवेश करता था । उत्तरी बंगाल का पुराना नाम 'पुण्ड्रवर्धन' था जिसकी राजधानी महास्थान थी, इसे महानगर या उच्चैःनगर भी कहते थे । गंगा के पूरबी किनारे पर मलद जनपद था जो अब मालदा कहलाता है । इसकी राजधानी गौड़पुर थी जिसका उल्लेख पाणिनि (६।२।१००) में हुआ है । कुछ समय बाद गंगा के दक्षिण भी आर्य बस्तियां बनने लगी होंगी और इस नई भूमि का साहित्य में सार्थक नाम 'वर्धमान' मिलता है । इस प्रदेश में नवनगर नाम से एक नयी राजधानी बनी जिसकी पहचान नवद्वीप (नदिया) से की जा सकती है । वर्धमान के दक्षिण प्राचीन सुह्म जनपद था जिसकी राजधानी ताम्रलिप्ति थी । इसे ही राढ देश भी कहा गया है । गंगा और सागर के संगम का भाग समतट कहलाता था । पूर्वी छोर पर जहाँ ब्रह्मपुत्र

और गंगा की धाराएँ समुद्र से मिलती हैं वहां पच्छिम में वारिषेण (आधुनिक बारीसाल) और पूरब में सूरमस जनपद था। सूरमस का उल्लेख अष्टाध्यायी (४।७।१७०) में हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि कम से कम ईसा से ५०० वर्ष पहले सूरमा नदी की दून और पर्वत उपत्यका में आर्य-प्रवेश हो चुका था और असम (आसाम) से बाल्हीक तक का भूखण्ड भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अभिन्न अंग बन चुका था। असम प्रान्त की एक संज्ञा प्राग्ज्योतिष भी मिलती है। सम्भवतः ब्रह्मपुत्र के उत्तर-पूर्वी कोने का पहाड़ी जोता इस नाम से प्रसिद्ध था। महाभारत के तीर्थ-यात्रा-पर्व में लौहित्य (ब्रह्मपुत्र की सहायक नदी) और उसके समीप संवेद्य तीर्थ का वर्णन है जो कि वर्तमान लोहित के किनारे का सदिया जान पड़ता है (वन०, पूना, ८३।१)।

भारत के मध्य का विस्तृत भूखण्ड विन्ध्यपर्वत के भूगोल से सम्बन्धित है। भूमि की मेखला के सदृश होने के कारण ही सम्भवतः इसका मुख्य-भाग मेकला कहा गया, जहां नर्मदा और शोण के उद्गम हैं। पृथक् भूमियों की दृष्टि से अवन्ति (मालवा), चेदि (जबलपुर से ओंकार मांधाता तक का प्रदेश), कोसल (छत्तीसगढ़), एवं उससे पूर्व उत्कल या कलिंग के महाजनपद मुख्य थे जिन्होंने भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। छोटे जनपदों की सूची में करूष (बघेलखंड), दशार्ण (भेलसा, वेत्रवती एवं अन्य बुन्देलखंड की छोटी नदियों का प्रदेश); निषध (नरवर या नलपुर), अनूप (माहिष्मती, चेदि का दूसरा नाम) हैं।

अपरान्त या पश्चिम के जनपदों में शूर्पारक, नासिक्य, भृगुकच्छ, कच्छ-माहेय (महीनदी का कांठा), सुराष्ट्र (काठियावाड़), सारस्वत (पाटन के पास सरस्वती का कांठा), आनर्त (उत्तरी गुजरात), अर्बुद (आबू-अड़ावली) हैं।

भारतीय भूगोल की एक बड़ी इकाई दक्षिणापथ के नाम से प्रसिद्ध है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है भारतीय भूसन्निवेश का क्रमशः विस्तार

होते-होते देश के दक्षिणी छोर कन्याकुमारी तक का समस्त भूखंड भारतीय संस्कृति और भूगोल का अभिन्न अंग बन गया था। इस बड़े प्रदेश का शायद ही कोई ऐसा भाग हो जहाँ तीर्थों की कल्पना न की गई हो। नदी पर्वत और जलाशयों का नामकरण, तीर्थों की स्थापना, स्थलमाहात्म्यों की रचना एवं यातायात के लिये पथों का निर्माण, इन युक्तियों से दक्षिणापथ प्रदेश का हर एक हिस्सा मातृभूमि के चैतन्य केन्द्र के साथ जुड़ गया। इस प्रसार के अनेक सूत्र धार्मिक और राजनैतिक इतिहास में पिरोए हुए मिलते हैं।

गोदावरी, कृष्णा, तुंगभद्रा, कावेरी, और ताम्रपर्णी की मुख्य जलधाराओं और उनकी अनेक सहायक नदियों के नाम प्रायः संस्कृत से निकले हुए हैं[1], जो भौगोलिक नामकरण के द्वारा भाषा के क्षेत्र में सांस्कृतिक एकता का संकेत करते हैं। दक्षिणापथ में अनेक जनपद या जातीय भूमियाँ हैं जिन्हें वहां नाडु कहते हैं। भुवनकोश सूची के अनुसार दाक्षिणात्य जनपदों के मुख्य नाम ये हैं—पांड्य, केरल, चोल, वनवासक (वैजयन्ती, आधुनिक बनवासी), महाराष्ट्र, माहिषक (दक्षिणी हैदराबाद), शबर (गोदावरी की सहायक शबरी नदी का प्रदेश), आटविक राज्य (बस्तर सम्भवतः इन्द्रवती नदी का प्रदेश), मूलक (औरंगाबाद

(१) जैसे—अर्कवती (कावेरी की शाखा)।
चित्रवती और पापघ्नी (कोलार जिले में उत्तर पिनाकिनी की शाखाएं); वेदवती (चीतलद्रुग जिला, तुंगभद्रा की शाखा); स्वर्णमुखी (जयमंगली नदी की शाखा जो स्वयं उत्तर पिनाकिनी में मिलती है); वीर वैष्णवी, शिंशा, कण्वा, भवानी, हेमावती, लक्ष्मणतीर्था, लोकपावनी (ये सब कावेरी के प्रस्रवण क्षेत्र की नदियाँ हैं), वसिष्ठी, मुचकुंदी, चन्द्रगिरि, वाङमयी (कोट्टयम के पास), शरावती, सुवर्णा, नेत्रवती, कालिन्दी (ये छोटी नदियां सह्याद्रि से निकलकर रत्नाकर या पश्चिमी समुद्र में मिलती हैं)।

जिला), अश्मक (गोदावरी के दक्षिण अहमदनगर और भी जिले), ऋषिक (खानदेश), विदर्भ (बरार), कुन्तल और आन्ध्र ।

धुर पच्छिम में सिन्ध और बलूचिस्तान लगभग वैदिक काल से भारतीय भूगोल का अंग बन चुके थे । बलचिस्तान की उत्तरी सीमा पर बहने वाली गोमल (वैदिक गोमती) और उसकी सहायक झाब (वैदिक यव्हवती) हैं । बोलन नाम की पहचान ऋग्वैदिक भलन से की जाती है । सुलेमान पर्वत का वैदिक नाम त्रिककुद् था जहाँ का सुरमा (त्रैककुदअंजन) आज भी पंजाब और सिन्ध में मशहूर है । यह प्रदेश पाणिनि के भूगोल का तो अभिन्न अंग बन चुका था । उत्तरी सिन्ध का नाम सौवीर था जिसकी राजधानी सिन्ध के किनारे का रौरुक नगर (वर्तमान रोड़ी) था । दक्षिणी सिन्ध 'सिन्धुवक्त्र' कहलाता था और पूरब का पारकर जिला पारस्कर । वस्तुतः मध्य सिन्ध में अत्यन्त शक्तिशाली ब्राह्मणक जनपद नामक संघराज्य था जिसके स्वातन्त्र्य प्रेम की प्रशंसा यूनानी लेखकों ने की है । सिन्धु-बलूचिस्तान की सीमा पर स्थित हाला पहाड़ का नाम साल्वका गिरि था । उसके पश्चिम का प्रदेश पारद जनपद कहलाता था जिसकी पहचान बलूचिस्तान के हिंगुला नदी के प्रदेश से की जा सकती है । उसके पश्चिम मकरान का रेगिस्तान पारदायन कहलाता था । इस समस्त सूखे प्रदेश के निवासियों को महाभारत में देवमातृक कहा गया है अर्थात् वहां के लोग खेती के लिये इन्द्र पर निर्भर थे (इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैः) । मध्य बलूचिस्तान में मूला नदी के तट पर जो आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है मौलेय लोगों का निवास था जिनका उल्लेख वसातियों के साथ कई बार महाभारत में आया है । वसाति की पहचान आधुनिक 'सीबी' से की जाती है । दक्षिणी अफ़गानिस्तान से एक प्रसिद्ध रास्ता बोलन दर्रे को पार करके उत्तरी बलूचिस्तान में उतरता था और वसातियों के देश में होकर पंजाब की ओर बढ़ता था । कन्धार के आसपास का प्रदेश भारतीय आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित था, इसका प्राचीन नाम हारहूर था । वहां के काले रंग के अंगूर जिनका

उल्लेख कौटिल्य ने किया है, ठीक चमन के रास्ते भारत में आते थे। सभी पुराणों में हारहूर की गणना भारतीय भुवनकोश के उदीच्य देशों के अन्तर्गत की गई है। हारहूर नाम प्राचीन ईरानी 'हरव्हैती', संस्कृत सरस्वती (आधुनिक अरगन्दाब) से बना है। हेल्मन्द नदी का प्राचीन नाम हएतुमन्त संस्कृत सेतुमन्त था जो सरस्वती के ही प्रस्रवण क्षेत्र का एक अंग थी।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय भुवनकोश के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मध्यएशिया के पामीर-प्रदेश से लेकर दक्षिणी समुद्र तट तक एवं बलूचिस्तान से असम प्रान्त तक की भौगोलिक सीमाओं तक देश की इकाई साहित्य और संस्कृति का एक अंग बन चुकी थी। राजनैतिक क्षेत्र में अन्य देशों की भांति हमारे इतने बड़े देश की एकता इतिहास की कशमकश के भीतर से कभी प्रकट होती और कभी लुप्त हो जाती थी। अशोक के विजित में उत्तर-पश्चिम से लेकर लगभग मैसूर तक का प्रदेश सम्मिलित था। किन्तु राजनैतिक एकता के उतार-चढ़ाव से कहीं ऊपर देश की सांस्कृतिक एकता थी। बहुत तरह की विविधताओं के भीतर से उसकी प्राप्ति भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी विजय है। यहां के इतिहास का यही मूलसूत्र ज्ञात होता है कि जातीय भूमियों की निजी विशेषताओं की रक्षा करते हुए एक सर्वोपरि आध्यात्मिक एकता को जनता के मानस ने स्वीकार किया। भाषा, साहित्य, धर्म, दर्शन, कला और जीवन के विविध क्षेत्रों में उस एकता को हम अनेक प्रकार से पल्लवित हुआ देखते हैं। भारतवर्ष का भूगोल एक स्वयंसिद्ध इकाई है। उसकी उत्तरी पर्वत-शृंखला एवं देश के भीतरी भाग के पहाड़ एक दूसरे के साथ घनिष्ठ प्राकृतिक सम्बन्ध रखते हैं। उनसे दूर-दूर तक मेघों के वर्षा जलों का और नदियों की धाराओं का आपसी सम्बन्ध बनता है। देखने में सिन्ध और ब्रह्मपुत्र पश्चिमी समुद्र और पूर्वी समुद्र में मिलने वाली नदियां हैं, परन्तु वे दोनों एक उद्गम से प्रकट होती हैं और एक ही भूमि के जलीय संस्थान की अभिन्न

अंग हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष दक्षिणी एशिया के भूगोल की एक महत्वपूर्ण इकाई है। उसकी मध्यवर्ती स्थिति ऐसी है कि थल और जल के सभी मार्ग चारों ओर से आकर भारतीय भूमि पर मिल जाते हैं। यह स्थूल सत्य इतना बलिष्ठ है कि इसने सदा ही भारतवर्ष के इतिहास का नियन्त्रण किया है। मध्य एशिया, मंगोलिया, ईरान, अरब, यूनान और रोम हिन्देशिया और अफ्रीका इन सब के पथसूत्र भारतवर्ष के साथ उसी प्रकार मिले हुए थे जैसे पहिये की पुट्ठी से आनेवाले अरे नाभि से जुड़े रहते हैं। यही कारण है कि शायद ही इन देशों के इतिहास में कोई आँधी ऐसी उठी हो जिसका प्रभाव इस देश पर न पड़ा हो।

भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालने से उसके दक्षिण में फैले हुए भारतीय महासागर की ओर भी ध्यान जाता है। इस महासागर को भारतीय प्रायद्वीप ने दूर तक समुद्र में घुस कर दो भागों में बांट दिया है, पश्चिम में अरब समुद्र (प्राचीन रत्नाकर) और पूर्व में बंगाल की खाड़ी (प्राचीन महोदधि)। इन दोनों समुद्रों में लगभग तीन हजार मील लम्बी तट-रेखा है। इस तट पर हमेशा से बहुत से सुन्दर जलपत्तन या तटपत्तन रहे हैं। शूर्पारक (सुपारा) भरुकच्छ (भड़ोच), कावरीपत्तन (कावेरी के मुख पर पुहार) मसुलीपत्तन, विशाखा-पत्तन, कलिंगपत्तन, ताम्रलिप्ति आदि अनेक प्राचीन पोतपत्तन थे, जहाँ से द्वीपान्तरों में आवागमन और व्यापार होता था। भुवनकोशों में इस भूमि को समुद्र से घिरा हुआ (सागर-संवृत) कहा है। साहित्य में इसे बारम्बार समुद्रों की जड़ाऊ करधनी (रत्नानुविद्धार्णवमेखला) पहननेवाली कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के राज्याभिषेक की जो प्रतिज्ञा पाई जाती है उसमें समुद्र पर्यन्त पृथिवी के एकछत्र राज्य का आदर्श आरम्भ में ही मान लिया गया था। वेदव्यास की दो कल्पना के अनुसार दोनों समुद्र भारत मेदिनी के चितवन हैं (समुद्रापांगा, आदि० ६७।२८)। गुप्त-सम्राटों ने बड़े गर्व से अपने यश का प्रसार चार समुद्रों की सीमाओं (चतुरुदधि सलिलास्वादितयशसः) तक कहा है।

कालिदास के 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' और हर्ष के 'चतुरुदधि मेखलाया भुवो भर्ता' पदों में भी समुद्रों के आधिपत्य की यही ध्वनि पाई जाती है। भारत ने अपने अप्रतिहत सामुद्रिक अधिकार द्वारा अत्यन्त विस्तृत बृहत्तर भारत का निर्माण किया था। जावा, सुमात्रा, (श्री विजय), मलय, कम्बुज, चम्पा, स्याम (द्वारावती) केड़ा (कटाहद्वीप) बोर्नियो (वारुण द्वीप) आदि द्वीपान्तर भारत के अन्तर्गत समझे जाने लगे थे। अतएव पुराणकारों ने बृहत्तर भारत न कहकर मातृभूमि और द्वीपान्तरों को मिलाकर भारत कहना शुरू किया जैसा कि इस वचन से ज्ञात होता है—

'इस भारतवर्ष के नौ भाग जानने चाहिए उनके बीच में समुद्र की दूरी है। आपस में वे अगम्य हैं।' नौ साधन द्वारा समुद्र पार किये बिना एक द्वीप से दूसरे द्वीप में नहीं जाया जा सकता।

इन्द्रद्वीप, केसरु द्वीप, ताम्रपर्णी, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्यद्वीप, गन्धर्वद्वीप और वारुण द्वीप—ये आठ द्वीप हैं और उनमें नौवां यही द्वीप है जो समुद्र से घिरा हुआ है[१]।

यहां पुराण-लेखक ने नवें द्वीप का नाम न बताकर केवल 'अयं' पद से उसका संकेत किया है (अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागर संवृतः) क्योंकि वह स्वयं यहीं बैठकर लिख रहा था; किन्तु राजशेखर ने काव्य मीमांसा (अ० १७) में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतवर्ष के जो नौ भाग हैं उनमें इन्द्रद्वीपादि आठों के अतिरिक्त नवाँ कुमारी द्वीप है। इस प्रकार एक समय (सम्भवतः गुप्तकाल में) बृहत्तर भारत के द्वीपान्तरों

---

(१) भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निबोधत।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्॥
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णी गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
(मत्स्य० ११४।७–९; वायु० १।४५।७८-८०; मार्कंडेय ५७।६-७)

को मातृभूमि के साथ मिलाकर 'भारतवर्ष' इस भौगोलिक संज्ञा के अन्तर्गत मानने लगे थे। हिन्देशिया के ये द्वीप संस्कृति, कला, भाषा, आदि की दृष्टि से भारत के अंग समझे जाने लगे थे। निश्चय ही इस धारणा के मूल में यह विश्वास भी था कि भारत को द्वीपान्तरों के साथ मिलाने-वाले समुद्र भी भारतीय भूगोल के अभिन्न अंग हैं। प्राकृतिक भूमि-रचना एवं इतिहास दोनों की साक्षी भारत को अपने दक्षिण के समुद्रों पर मातृभूमि जैसा ही पर्ण अधिकार प्रदान करती है। भारतवर्ष ने यह श्लाघनीय स्थिति, आसुरी देश-विजय अथवा राजनैतिक छीना-झपटी से नहीं प्राप्त की। यह विशुद्ध सांस्कृतिक विजय थी। धर्म और संस्कृति के वरदानों को लेकर भारतवासी उन द्वीपों में पहुँचे और उनका उन्मुक्त स्वागत हुआ। भौतिक समृद्धि और विचार-संस्कृति के क्षेत्र में उन देशों का उपकार करने के कारण भारतवर्ष के साथ उनका सम्बन्ध मातृभूमि जैसा ही घनिष्ठ हो गया, यहाँ तक कि वहां के राजा भारतवर्ष के साथ अपना विबाह सम्बन्ध करने के लिये उत्सुक रहते थे।

इस प्रकार पूर्व और पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में भारतीय भूगोल की दृष्टि से कई तथ्य ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो भारतीय साहित्य के सबसे प्राचीन भौगोलिक अंश भुवनकोशों के अनुसार उत्तर में बाल्हीक और कम्बोज (बल्ख और मध्य एशिया) तक भारत भूमि का विस्तार माना जाता था। इसकी प्राकृतिक सीमा वंक्षु नदी थी। ठेठ पश्चिम की ओर हारहूरक (अरगन्दाब) से लेकर बलूचिस्तान के पारद-प्रदेश (हिंगुलाज) तक यह सीमा चली गई थी। हिमालय में गंगा के अन्तिम छोर तक जहाँ उसकी सबसे उपरली धारा जाह्नवी का उद्गम जंस्कर शृंखला से होता है भारत की सीमा थी। इस समय भी यह सीमा लगभग वहीं तक है। कैलास और मानसरोवर भी सदा से भारतीय भूगोल के अन्तर्गत रहे हैं। राजशेखर ने तो स्पष्ट कहा है कि कुमारी पुर (कन्याकुमारी) से लेकर बिंदुसर (मानसरोवर) तक

भारत के चक्र अर्थात् राष्ट्र का विस्तार है[१]। पूर्व दिशा में भारतीय सीमा का विस्तार लौहित्य-प्राग्ज्योतिष तक था। लौहित्य के उस पार बर्मा, चीन, तिब्बत के धनुषाकार भाग में किरात जातियों का निवास था, इसलिये पुराणों में कहा है कि भारत के पूर्व में किरात बसे हैं[२]। दक्षिण दिशा में कन्याकुमारी तक भारतभूमि का अखंड विस्तार उसके भूगोल का पहला सत्य था। रत्नाकर और महोदधि समुद्रों का भारत के साथ सम्बन्ध भारत के दक्षिणी भूगोल का दूसरा सत्य सदा से रहा है। इसी भूगोल की तीसरी ऐतिहासिक सच्चाई उस रूप में प्रकट होती है जब समुद्र के उस पार के कितने ही द्वीप जो आजतक भारतीय द्वीप-समूह के नाम से विख्यात हैं भारत के अन्तर्गत माने जाने लगे थे।

---

(१) कुमारी पुरात् प्रभृति बिन्दुसरोवधि........चक्रवर्ति क्षेत्रं।
तां विजयमानश्चक्रवर्ती भवति। (काव्यमीमांसा अ० १७)

(२) योजनानां सहस्रन्तु द्वीपोयं दक्षिणोत्तरात्।
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः।
(विष्णु० २।३।८)

अध्याय ४

पृथिवी सूक्त

'भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ'

मातृभूमि का जो स्थूल रूप है वह भूमि पर रहनेवाले जन की एकता का आधार है। देश के स्थूल रूप पर आश्रित इस ऐक्य के भाव से भी अधिक मूल्यवान् मनुष्यों के मन की यह भावना है कि पृथिवी हमारी माता है और हम सब उसके पुत्र हैं। माता और पुत्र का यह सम्बन्ध नित्य और दैवी धरातल पर होता है। वह किसी भी प्रकार समाप्त नहीं किया जा सकता। उस सम्बन्ध के मूल में अनन्त पोषक रस है जो पुत्र को माता के प्रति सदा कर्तव्य परायण रखता है और उसके मन में कृतज्ञता का भाव भरता है। देशव्यापी मौलिक एकता की प्रतीति के लिए मातृभूमि और जन के बीच में 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की अनुभूति दृढ़ चट्टान की तरह है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में इस सत्य की पहचान पूरी तरह कर ली गई थी। मातृभूमि के प्रति भारतीय भावना का सुन्दर वर्णन अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त (१२।१।१-६३) में पाया जाता है। मातृभूमि के स्वरूप और उसके साथ राष्ट्रीय जनकी एकता का जैसा बहुमुखी सक्षम वर्णन इस सूक्त में है वैसा विश्व के प्राचीन साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इन मन्त्रों में एक ओर पृथिवी की वह प्रशस्त वन्दना है जैसी कृतज्ञता से भरा हुआ मानव-हृदय अनन्त उपकारों की जननी अपनी माता के प्रति करता है। साथ ही भूमि पर जन और संस्कृति के विकसित होने के जो नियम हैं उनका विवेचन भी इस सूक्त में है। अतएव राष्ट्रीयता एवं जन की मौलिक एकता के परिचय के लिये पृथिवी-सूक्त के भावों का हम विशद उल्लेख करेंगे।

कवि की दृष्टि में यह भूमि राष्ट्रीय जन की भौतिक स्थिति का आधार है। यह भूमि कामदुघा है। जन की समस्त कामनाओं का दोहन भूमि से इस प्रकार होता है जैसे अडिग भाव से खड़ी हुई धेनु दूध की धाराओं से पन्हाती है। पृथिवी के इस भौतिक दुग्ध के पीछे एक अमृत है जिसने जन को अमरता प्रदान की है। स्वार्थ और निजी पोषण से ऊपर उठकर व्यक्ति जब जन के अमर जीवन को पहचानता है तब वह भी अमरता का आनन्द पाता है। मातृ-भूमि की पोषण-शक्ति अनन्त है, वह 'विश्वम्भरा' है। एक व्यक्ति या समुदाय के लिये मातृभूमि के वरदान नहीं हैं, उसका दुग्ध समस्त पुत्रों के लिये है। इसलिये कवि ने पृथिवी को 'विश्वधायस्' (२७)[1] सबका भरण-पोषण करनेवाली कहा है। यह विश्वास समस्त जन को मातृभूमि के साथ समान रूप से बाँधता है। भूमि के वरदानों के समान वितरण में जब रुकावट पड़ती है तब इतिहास की सिमटी हुई शक्तियाँ प्रचंड वेग से उस रुकावट को हटा देती हैं, इसके लिये फिर चाहे कितना भी मूल्य चुकाना पड़े।

---

(१) कोष्ठक के अंक सूक्त के मन्त्रों के सूचक हैं।

पृथिवी का स्थूल रूप अनेक प्रकार से आकर्षण की वस्तु है। भौतिक रूपों में जो श्री या सुन्दरता है उसपर प्रत्येक देश के जन को उचित गर्व होता है। सृष्टि में जो सौन्दर्य की निधि है उसका पर्याप्त भाग हमारी भूमि को भी मिला हुआ है। मातृभूमि की प्रत्येक दिशा रमणीयता से भरी हुई है (आशां आशां रण्यां, ४३)। वस्तुतः पृथिवी विश्वरूपा है, सारे रूपों की खान है। पर्वतों के उष्णीष और समुद्रों की मेखला से अलंकृत मातृभूमि पुष्कल सौन्दर्य की प्रतिमा है। इस सौन्दर्य की आकर्षण-रश्मियां देश में चारों ओर फैलती हुई मनुष्यों के मन को अपनी ओर खींचती हैं। इस प्रकार भूमि और जन के घनिष्ठ सम्बन्ध का एक अपूर्व विधान तैयार होता है। अनन्त सौन्दर्य की खान हिमालय की देवभूमियाँ भारतीय जनता के मन को एक-रस बनाने में कितनी सहायक हैं? राष्ट्रीय दृष्टि से अपने सौन्दर्य-स्थलों की पूरी पहचान और ख्याति करना प्रत्येक देश का आवश्यक कर्तव्य है। प्राकृतिक शोभा मातृभूमि के शरीर का ऐसा लावण्य है जो युग-युगों तक मातृभूमि के प्रति हमारे आकर्षण को बढ़ाता है। कवि प्रार्थना करता है कि भूमि के सौन्दर्य के दर्शन करने के लिये सौ वर्षों तक हमारे नेत्रों की ज्योति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे और हमें सूर्य का अनुराग प्राप्त हो (३३)। चारों दिशाओं में फैले हुए मातृभूमि के चतुरस्रशोभी शरीर को देखने के लिये जन के पैर उसे दिशाओं के अन्त तक ले जाते हैं। पैरों की छाप से भूमि पर मार्ग बनते हैं। संचरणशीलता से हम दिशाओं के कल्याणों को प्राप्त करते हैं (३१)[1]। जिस प्रदेश में जनता की पद-पंक्ति पहुँचती है वह भूसन्निवेश का तीर्थ बन जाता है। जनता की पद पंक्तियों द्वारा ही मातृभूमि के विशाल जनायन पन्थों (मनुष्यों के लिये आने-जाने के मार्गों) का निर्माण होता है। यात्रा के बल से ही रथों के पथ और शकटों के मार्ग भूमि पर बिछ जाते हैं (ये ते पन्था बहवो जनायना

---

(१) **यास्ते प्राची प्रदिशो या उदीचीः....**
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु।

रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे (४७)। पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण को धुराधुर मिलानेवाला पथों का जाल मातृभूमि की एकता का प्रत्यक्ष रूप है। किसी समय पर्वतों और महाकान्तारों की भूमियाँ आदि जन के पद-संचार से परिचित हुईं; 'चारिकं चरित्वा' के व्रती पथ-यात्रियों ने स्थान-स्थान पर पहुँच कर पुर और जनपदों में नये मंगल का आरम्भ किया। इस प्रकार मातृभूमि के केन्द्र का विस तार हुआ। उसके दिगन्तों में पड़े हुए दीप्ति-पट्ट उठ गए। नये भुवनों का प्रकाश उसके सीमांत में भर गया और चतुरन्त पृथिवी के रूप का निर्माण हुआ।

आरम्भिक भू प्रतिष्ठा के दिन जब जनता ने भूमि पर अपने पैर टेके तो मनुष्यों ने ललक कर मातृभूमि के स्वरूप का घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया। उन्नत प्रदेश, निरन्तर बहने वाली जलधाराएँ और हरे-भरे समतल मैदान (यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु, २) इन तीनों ने मिल कर भूमि का रूप-सम्पादन किया है। छोटे-छोटे गिरिजाल और हिमराशि का श्वेत मुकुट बाँधे हुए महान् पर्वत सच्चे अर्थों में मही-धर बनकर पृथिवी को टेके हुए हैं। उनके ऊँचे शृंगों पर जमी हुई हिम-राशि, अधित्यकाओं में सरकते हुए वर्फानी ग़ल (हिमश्रथ), उनके मुख या बांक से निकलने वाली नदियाँ, तटान्त में बहनेवाली सहस्रों धाराएँ, पर्वतस्थली और द्रोणी, निर्झर और नदियों की झूलती हुई तलहटियां, शैलों का दारण करके बनी हुई दरी और कन्दराएँ, पर्वतों के पार जाने वाले जोत और घाटे—इन सबका अध्ययन भौमिक चैतन्य का एक आवश्यक अंग है। विश्वकर्मा ने जिस दिन मातृभूमि की रचना के मंगल यज्ञ में अपनी हवि डाली थी उस दिन ही उसमें पर्वतों का अंश पर्याप्त मात्रा में रख दिया था। महान् गिरिराज इस देश का विस्तृत वर्ष-पर्वत है जो उसे औरों से पृथक् करता हुआ एक सुदृढ़ भौगोलिक संस्थान का अंग बनाता है।

पर्वतों की सूक्ष्म छान-बीन भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है।

हिमालय के दुर्धष गंड शैलों को चीर कर यमुना, जान्हवी, भागीरथी और अलकनन्दा ने केदारखंड में तथा सरयू, काली, कर्णली ने कैलास मानसखंड में करोड़ों वर्षों के परिश्रम से पर्वतों को तोड़कर ढोकों का निर्माण किया, उन्हें चूर करके हिमालय के बहिर्गिरि प्रदेश को गंग-लोढों से पाट दिया, और पुनः नदियों के इस विक्रमशील घराट ने गंग-लोढों को महीन पीसकर अन्तर्वेदी का निर्माण किया। इस प्रकार नदियों के वार्षिक ताने-बाने से विस्तृत समतल प्रदेश अस्तित्व में आए। काला-न्तर में उनके साथ जन का सम्बन्ध हुआ। जिस पराक्रमशालिनी गंगा ने मातृभूमि के हृदय स्थानीय मध्यदेश को जन्म दिया है उस देवनदी गंगा को समस्त राष्ट्र ने पवित्र और मंगल्य माना। गंगा राष्ट्रीय ऐक्य की शाश्वत पताका है, उसके तटों पर हमारी संस्कृति फली-फूली है। कवि कहता है कि स्थूल दृष्टि से पत्थर और धूल, चट्टान और मिट्टी के परस्पर गुँथने से यह भूमि दृढ़ हुई है। ऐसी भूमि को प्रणाम है[1]। चित्र-विचित्र चट्टानों से बनी हुई, भूरी काली और लाल रंग की मिट्टियां मातृभूमि को बहुरंगी चोला पहनाती हैं (बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिम्, ११) । इन्हीं मिट्टियों के अन्तस्तल में स्वर्ण छिपा है जिससे मातृभूमि 'हिरण्य वक्षा' कहलाती है और सबके आदर के योग्य बनती है। यही मिट्टियाँ नाना प्रकार की वृक्ष वनस्पतियां ओषधियां उत्पन्न करती हैं। इन्हीं से पशुओं और मनुष्यों के लिये अन्न उत्पन्न होता है। मातृभूमि की मिट्टी में अद्भुत रसायन है। इसी से जन का शरीर बनता है। मातृभूमि की मिट्टी में जो निजी गन्ध है, वही राष्ट्रीय जन की अपनी विशेषता है।

जिस प्रकार पर्वत और उनसे बहनेवाली जलधाराएँ पृथिवी के रूप को एकता प्रदान करती हैं उसी प्रकार प्रचंड वेग से चलती हुई हवाएँ अनेक प्रकार से हमारे जीवन की एकता बनाती हैं। हवाओं से

---

(१) **शिला भूमि रश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।**
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः। (२६)

वृष्टि का नियमन होता है और एक वृष्टि-चक्र के अन्तर्गत भूखंड एक वर्ष कहा जाता है। ऋतु-विज्ञान की दृष्टि से भारतवर्ष की अपनी इकाई है। ग्रीष्म के अन्त में उपयुक्त समय पर धूल उड़ाती हुई, पेड़ों को उखाड़ फेंकती हुई 'मातरिश्वा' नामक आंधी प्रचंड वेग से दक्षिण पश्चिम से उत्तर की ओर बहती है। इस दुर्धर्ष पुरोवात के बवण्डर जब ऊपर नीचे चलते हैं तब बिजली कड़कती है और आकाश कौंध से भर जाता है[1]। प्रतिवर्ष देश का आकाश अन्धड़ झंझावात और तडित्वन्त मेघों से भर जाता है और भूमि वृष्टि से जलमयी हो जाती है (वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता, ५२)। प्राकृतिक जगत् की ये घट-नाएं जनता के मानस को किस प्रकार एक दूसरे से मिलाती हैं। मेघजालों के इन उपकारों को याद करके कवि ने पर्जन्य को पिता (१२) और भूमि को पर्जन्यपत्नी (४२) कहा है—भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे—वर्षा का जल जिसमें मेद की तरह भरा है, पर्जन्यों की प्यारी उस भूमि को प्रणाम है।

मेघों की यह वार्षिक विभूति हमें समुद्र से मिलती है। जल से भरे हुए समुद्र, नदी निर्झरों की धाराएं, और अन्न से लहलहाते हुए खेत, इन तीनों का परस्पर घनिष्ठ संबंध है (यस्यां समुद्र उत्सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः,३)। दक्षिण के गर्जनशील महासागरों के साथ भूमि का उतना ही अभिन्न सम्बन्ध है जितना कि उत्तर के पर्वतों के साथ। दोनों एक ही धनुष की दो नोक हैं। उत्तर और दक्षिण के ये भौतिक सम्बन्ध बहुत गहरे हैं। रमणीय पौराणिक कल्पना के अनुसार इस विस्तार के एक सिरे पर शिव और दूसरे पर पार्वती हैं और शिव तक पहुंचने के लिये कुमारी पार्वती दक्षिणी समुद्र-तट पर अखंड तप करती रहती हैं।

कवि की दृष्टि में यह भूमि अनेक जलधाराओं (भूरिधारा) से

---

(१) यस्यां वातो मातरिश्वा ईयते
रजांसि कृण्वन् च्यावयंश्च वृक्षान्।

युक्त है। उनके जल रात-दिन आलस्य के बिना सब ओर बह रहे हैं[1]। वही जल भूमि की मिट्टी का रसायन पाकर हमारे लिये दूध बन जाता है (पयोदुहाम्) और फिर अन्नरूप में शरीर के भीतर पहुंच कर बल और तेज देता है (उक्षतु वर्चसा)। कवि का कहना सत्य है। भूमि के जल और जनता के शरीर में बहनेवाले रक्त इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों को मिलानेवाला माध्यम अन्न है। मेघ और नदियों के जल पौधों के शरीर में पहुँचकर दूध में बदल जाते हैं और वह दूध ही गाढ़ा होकर जौ, गेहूँ और चावल के दानों के रूप में जम जाता है। प्रतिवर्ष यह क्षीरसागर हमारे खेतों में भर जाता है और यही दूध अन्न के रूप में मनुष्यों में प्रविष्ट होकर शक्ति और तेज उत्पन्न करता है। जो जल पृथिवी पर बहते हैं वे पहले आकाश में विचरते हैं। वहां उनमें हदबन्दी की लकीरें नहीं होतीं। आकाश के वायुमंडल में भरे हुए ये जल समग्र राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। भारतीय कवि इसी कल्पना के अनुसार गंगा के पार्थिव जलों का स्रोत आकाश के दिव्य जलों में मानते हैं। मातृभूमि के हिस्से में आई हुई जलराशि पर्याप्त है, उसका उचित संग्रह और नियमित प्रवाह करके हम उन जलों को सबके लिये सुलभ बना सकते हैं।

भूमि के स्थूल रूप में उसके जंगल भी हैं। वन-सम्पत्ति और कृषि-सम्पत्ति, वनस्पतिजगत् के ये दो बड़े भाग हैं। पृथिवी दोनों की माता है। एक ओर इसके बलिष्ठ पुत्र खेतों में अधिक परिश्रम करते हैं (क्षेत्रे यस्या विकुर्वते, ४६) और भांति-भांति के जौ, चावल आदि अन्नों को उत्पन्न करते हैं (यस्यामन्नं व्रीहियवौ, ४२)। ये लह-लहाती हुई खेतियां (कृष्टयः, ३) हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। दूसरी ओर अनेक जंगल और वन हैं जिनमें तरह-तरह की ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। (नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति, २)। यह धरती सब ओष-

(१) यस्यां आपः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति। (९)

धियों को उपजानेवाली माता है (विश्वस्वं मातरमोषधीनाम्, १७)। वर्षा ऋतु में ओषधियों की बाढ़ से पृथ्वी का शरीर ढक जाता है। षड् ऋतुओं के चक्र में ये ओषधियाँ पक कर मुरझा जाती हैं, तब उनके बीज इसी धरती में समा जाते हैं। पृथ्वी उन बीजों को सम्हाल कर रखनेवाली धात्री है (गृभिः ओषधीनाम्, ५७)। देश के वातातपिक जीवन में पनपनेवाली ये ओषधियाँ चाहे जिस भाग में हों समस्त जन के लिये हैं। प्रतिवर्ष नाना स्थानों में उत्पन्न होकर वे चारो खूँटों में फैल जाती हैं। मातृभूमि की एकता का स्वर्णिम अध्याय इन ओषधियों के जन्म और प्रयोग के रूप में प्रतिवर्ष सामने आता है।

वृक्ष और वनस्पति भी मनुष्य की तरह पृथिवी के पुत्र हैं। यहाँ वे अडिग भाव से खड़े हैं (यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति, २७)। प्रत्येक की आयु तो समय से बँधी हुई है परन्तु उनके बीज और उनकी नस्ल हमेशा जीवित रहते हैं। करोड़ों वर्षों से विकसित होते हुए वनस्पति जगत् के ये पुत्र परम्परा से हम तक पहुँचे हैं और आगे भी इसी प्रकार बढ़ते और फूलते-फलते रहेंगे। देवदारु और बरगद, आम और पीपल, उदुम्बर और शाल ये अपने यहाँ के कुछ महाविटप हैं। आद्य भूसन्निवेश के समय महावृक्षों के साथ भी मनुष्यों ने निकट का सम्बन्ध स्थापित किया था। १०० फुट ऊँचे और ३० फुट घेरे-वाले ऊँचे देवदारु के वृक्षों को हिमालय के उत्संग में खड़े देखकर शिव के पुत्र कहकर उनका सम्मान किया गया। इस प्रकार वृक्ष-देवताओं की कल्पना हुई। नदी-देवता और रुक्ख-देवता भूमि से सम्बन्धित धार्मिक भावना के अंग है। अनेक रूपों में आज भी ये जन-विश्वास जीवित हैं। समग्र देश के मन में एकता का भाव भरने में वृक्ष-लता और पुष्पों का भी बड़ा हाथ रहा है। हिमालय पर फूले हुए शाल-वृक्षों के नीचे होनेवाली क्रीडाएँ शालमंजिका कहलाईं। उन्हीं की तरह रक्ताशोक के फूलों का चयन करके होनेवाली

क्रीड़ाओं को 'अशोक पुष्प प्रचायिका' नाम दिया गया। इस प्रकार की अनेक क्रीड़ाएँ नगर-नगर और गाँव-गाँव में फैल गईं और उनके अभिप्राय उत्सव-प्रिय स्त्री-पुरुषों के जीवन में भर गए। प्राचीन भारतीय साहित्य और कला के देशव्यापी अभिप्रायों में इनकी भी गिनती है। वसन्त के आगमन काल में पुष्पों की शोभा से जब वनलक्ष्मी नया श्रृंगार सजाती है तब समस्त भूमि मानो नवीन यौवन का स्पर्श पाकर गन्ध से महमहाने लगती है। कमल हमारी मातृभूमि का प्रतीक ही बन गया है। उसका स्मरण करते हुए कवि कहता है--हे भूमि जो तुम्हारी गन्ध है वही कमल में बसी हुई है, उसी सुगन्ध से मुझे भी सुरभित करो (यस्ते गन्धः पुष्कर माविवेश तेन मा सुरभिंकृणु,२४)। अनेक व्यक्तियों के मनोभावों का वरदान पाकर राष्ट्रीय प्रतीक बनते हैं। कमल हमारे राष्ट्र का इसी प्रकार बना हुआ सर्वसम्मत प्रतीक है। अनेक साहित्यिक, धार्मिक और दार्शनिक भाव कमल के प्रतीक में मिले हैं।

पृथ्वी पर बसनेवाले पशु और पक्षी भी हमारे राष्ट्रीय मनोभावों के अंग हैं। भारतीय संस्कृति के अनेक आदर्श उस प्रकार गौ में मिलते हैं, जिस प्रकार कि पहिए की नाभि में अरे। भूमि पर रहनेवाली पशु सम्पत्ति भूमि के लिये उतनी ही आवश्यक है जितना कि स्वयं मनुष्य। यह पृथ्वी गौओं और अश्वों के निवास का बहुविध स्थान है (गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा,५)। देश के गोधन की नस्लें सहस्रों पीढ़ियों को घी और दूध से सींचती आई हैं। राष्ट्र के बाल-खिल्य बच्चे इसी क्षीर-गंगा के तट पर बड़े हुए हैं। गौओं के प्रति अनुकूलता और रक्षा का भाव राष्ट्रीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है जिसे पाकर जनता के मन शीघ्र एकता में बँध जाते हैं। सिन्धु, कम्बोज और सौराष्ट्र के तेज घोड़े देश में सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। उनकी समृद्धि राष्ट्रीय उन्नति के साथ जुड़ी है। आकाश की गोद में भरे हुए पक्षी सुपर्ण और हंस भी मातृभुमि के पार्थिव रूप को सुन्दर बनाते

हैं (यां द्विपादः पक्षिणः सम्पतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुनावयांसि, ५१)। कहा जाता है कि इस देश में लगभग ढाई सहस्र जातियों के पक्षी हैं। प्रतिवर्ष मानसरोवर की यात्रा करके लौटने वाले हंस शरद् की शुभ्र चाँदनी में जब सरोवरों के तट पर उतरते हैं तब जंगलों में एक नया उत्सव दिखाई पड़ता है। पक्षियों के सुरीले कंठ और सुन्दर रंग मातृ-भूमि की शोभा के प्रतीक हैं। वे हमारे जंगलों में अद्भुत चहल-पहल और अद्भुत आकर्षण वनाए रखते हैं। दक्षिणापथ के निवासी अनेक पक्षी समयानुसार उत्तर की यात्रा करते हैं, और इस प्रकार उत्तर-दक्षिण के ऋतुचक्र का सम्बन्ध सूचित करते हैं। पक्षियों के आवागमन और देशान्तर यात्रा की खोज इस समय अत्यन्त रोचक मानी जाती है। राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि में भी पशु, पक्षियों का ऊंचा स्थान होता है। किसी समय प्राचीन बावेरु देश में भारतवर्ष के मोरों की बड़ी माँग थी, लोग उनका सौन्दर्य देखने के लिए उत्सुक रहते थे। प्राचीन केकय देश (आधुनिक शाहपुर—गुजरात)के प्रदेश में कुत्तों की एक बघेरी नस्ल थी जिसकी ख्याति यूनान देश तक पहुँची थी। आज तो नवीन विज्ञान की आँख से समुद्र की तलहटी में पड़े हुए सीप और घोंघों का भी अध्ययन किया जाता है। जितनी लख चौरासी वर्षा-ऋतु में उत्पन्न होकर सहसा रेंगने और उड़ने लगती हैं उनके साथ भी हमारे जीवन का कल्याण मिला हुआ है। एक-एक मच्छर या डांस के कुपित होने से समाज में उपद्रव मच जाता है।

इन पार्थिव कल्याणों से सम्पन्न मातृभूमि का स्वरूप अपनी खनिज सम्पत्ति के द्वारा और भी मनोहर वना है। यह पृथिवी रत्न धात्री है, इसका वक्ष सोने से चमकता है (हिरण्यवक्षा,६)। इसकी कोख अनेक रत्न मणि और सुवर्ण से भरी हुई है। अटल खड़ी हुई अनुकूल धेनु के समान मातृभूमि द्रव्य की सहस्रों धाराएँ हमें देती है। उसकी कृपा से राष्ट्र का कोष अक्षय निधियों से भरता है। 'हे विश्व का भरण करनेवाली, रत्नों की खान, हिरण्य से परिपूर्ण मातृभूमि, तुम

जगत् की आधार हो। अनुकूल मन से हमारे लिये रत्नों का दोहन करो।'[1]

जन

इस प्रकार अनेक रूपों में मातृभूमि के सुनहले सौन्दर्य का वर्णन करके कवि और ऊँचे धरातल पर उठता है और भूमि एवं जन के सम्बन्ध के विषय में चर्चा करता है। भूमि पर जन का सन्निवेश बड़ी रोमांचकारी घटना मानी जाती है। किसी पूर्व युग में राष्ट्र के जन ने अपने पद इस पृथिवी पर टेके और भू-प्रतिष्ठा[2] प्राप्त की। उसके भूत और भविष्य की अधिष्ठात्री यह मातृभूमि है—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी (१)

जन सर्वप्रथम अजीत अहत और अक्षत रूप में भूमि पर पैर

---

(१) विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमि रग्निं,
इन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।(६)
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना,
देवी दधातु सुमनस्यमाना॥(४४)

(२) भूप्रतिष्ठा, भूमापन, प्रारम्भिक युग में भूमि पर जन के सन्निवेश की संज्ञा है जिसे अंग्रेजी में लैंड टेकिंग कहा जाता है। आइसलैंड की भाषा के अनुसार लैण्ड टेकिंगके लिये 'लैंड नामा,' शब्द है। डा० कुमारस्वामी ने ऋग्वेद को 'लैंडनामा बुक' कहा है, क्योंकि ऋग्वेद प्रत्येक क्षेत्र में आर्य जाति की भू प्रतिष्ठा का ग्रन्थ है। पूर्व जनों के द्वारा भूप्रतिष्ठा (पृथ्वी पर पैर टेकना) सब देशों में एक पवित्र घटना मानी जाती है (देखिये कुमारस्वामी, ऋग्वेद ऐज लैंड नामा बुक, पृष्ठ ३४)।

जमाना चाहता है और साथ ही वह पृथ्वी के साथ अत्यन्त घनिष्ठ और अंतरंग सम्बन्ध में बंध जाना चाहता है। यह सम्बन्ध इस प्रकार है:—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (१२)

भूमि माता है और मैं इस पृथ्वी का पुत्र हूँ। यदि जन या व्यक्ति के भीतर इस प्रकार का भाव उत्पन्न नहीं हुआ तो जन के द्वारा भूमि और भूमि के द्वारा जन का कल्याण होने में संदेह है। जो जन माता-पुत्र का सम्बन्ध मानता है उसी के लिये पृथ्वी अपने वरदान देती है जैसे माता पुत्र के लिये दूध—

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ (१०)

पुत्र को ही माता से पोषण प्राप्त करने का अधिकार है। माता-पुत्र के सम्बन्ध की अनुभूति राष्ट्रीयता की सबसे दृढ़ नींव है। यह पृथिवी कोरा मिट्टी-पत्थर का ढेर नहीं इस मातृभूमि के शरीर में से अनेक प्रकार की शक्ति की धाराएं निकलती हैं। जो पृथिवी के पुत्र हैं उन्हें ही वह शक्ति आन्दोलित करतीहै। कवि के शब्दों में:—

यत्ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं
यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेहि अभि नः पवस्व
माता भूमिः पुत्रोअहं पृथिव्याः॥ (१२)

पृथिवी या राष्ट्र का जो मध्य-बिन्दु है उसे ही वैदिक भाषा में 'नभ्यं' कहा है। उस केन्द्र से युग-युग में अनेक ऊर्ज या राष्ट्रीय बल निकलते हैं। जब इस प्रकार के बलों की बहिया आती है तब राष्ट्र का कल्पवृक्ष हरियाता है। युगों से सोए हुए भाव जाग जाते हैं और वही राष्ट्र का जागरण होता है। कवि की अभिलाषा है कि जब इस प्रकार के बल प्रवाहित हों तब मैं भी उस चेतना के प्राणवायु से संयुक्त होऊं। पृथिवी के ऊपर आकाश में छा जाने वाले विचार-मेघ पर्जन्य हैं जो अपने वर्षण से समस्त जनता को सींचते हैं (पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु, १२)। उन पर्जन्यों से प्रजाएं नई-नई प्रेरणाएँ

लेकर बढ़ती हैं। पृथिवी पर उठनेवाले ये महान् वेग मानसिक शक्तियों में प्रकम्प उत्पन्न करते हैं और शारीरिक बलों में चेतना या हलचल को जन्म देते हैं। शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के वेगों के लिये वेद में 'वेपथु' और 'एजथु' शब्दों का प्रयोग किया गया है—

१—महत्सधस्थं

२—महती बभूव,

३—महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे

४—महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् (१८)

यह भूमि अत्यन्त महती है। इसकी संज्ञा 'सधस्थ' (सह+स्थ) है, अर्थात् यह सबकी समान पितृभूमि, जहाँ सब लोग मिल-जुल कर एक साथ रहते हैं। इस पितृभूमि का पद अत्यन्त ऊँचा है। इसका क्षेत्र भी विस्तृत है। इसके पुत्रों के मनोबल (एजथु) और शरीरबल (वेपथु) भी महान हैं। इन तीन महत्ताओं से युक्त इस भूमि की रक्षा महान् इन्द्र अर्थात् राष्ट्र का संरक्षक बल और दैवी सत्य प्रमाद रहित होकर करते हैं। इस, प्रकार इस मन्त्र में चार विशेषताओं की ओर एक साथ ध्यान दिलाया है। महान् देश विस्तार, ऊंची सांस्कृतिक प्रतिष्ठा, जनता में शरीर और मन का उन्नत आन्दोलन और बल और राष्ट्र की बढ़ी हुई रक्षण-शक्ति, ये चार तथ्य जब एक साथ मिलते हैं तब राष्ट्र के जीवन में चमक उत्पन्न होती है। कवि कहता है, 'हे भूमि! सुवर्ण के दर्शन से हमारे लिये प्रकाशित हो, कोई हमारा बैरी न हो।'

यह मातृभूमि कितनी अग्नि-परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो चुकी है? घटनाओं के बड़े-बड़े बवण्डर और भूचाल, हौहरे और हड़कम्प, वतास और झंझाएं इस पृथ्वी पर चलती रही हैं। इसके इतिहास में कभी युद्धों के प्रलयंकर मेघ उठे, कभी क्रान्ति और विप्लवों के धक्कों से पृथिवी डगमगाई, परन्तु पृथिवी का मध्यबिन्दु सुरक्षित बच गया। जिन युगों में किलकारी मारने वाली घटनाओं के अध्याय सपाटे के साथ पूरे हो रहे थे उनमें

भी पृथ्वी का केन्द्र ध्रुव और अडिग रह गया। इसका कारण यह है कि यह पृथिवी सत्य की शक्ति से रक्षित है।

कवि की दृष्टि में मानव इस पृथिवी पर अड़चन के बिना निवास करते हैं (असंबाधं बध्यतो मानवानां, २) । प्रत्येक दिशा में जो हमारे देश की स्वाभाविक सीमा है वहां तक हमारी पृथिवी का अप्रतिहत विस्तार होना चाहिए। हम कहीं से उत्क्रान्त न हों (३२), भूमि का आश्रय लेते हुए हमारे पैरों में कहीं ठोकर न लगे। (मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः,३१), जनता के दाहिने और बाएँ पैर ऐसी दृढ़ता से जमे हों कि वे लड़खड़ाएँ नहीं (पद्भ्यां दक्षिण सव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्, २८) ।

भूमि पर जनों का विस्तार स्वाभाविक रीति से चारों दिशाओं में होता है। कवि की दृष्टि में यह पृथिवी अनेक जनों को अपने भीतर रखने वाला एक बर्तन है। (त्वमस्यावपनी जनानाम् ६१) । इस पात्र की तीन विशेषताएँ हैं, एक तो यह विस्तृत है (पप्रथान), दूसरे यह अखंड (अदिति) है, और तीसरे सब कामनाओं की पूर्ति करनेवाला (कामदुघ्) है। प्रजापति के सुन्दर और सत्य नियमों के कारण इस पूर्ण पात्र में किसी प्रकार की कोई कमी उत्पन्न नहीं होती। यदि होती है तो प्रजापति के अखंड नियम उस न्यूनता की पूर्ति करते हैं[1] । सृष्टि का जो ऋत या दुर्धर्ष व्यवस्थापक नियम है वही सब प्रकार की त्रुटियों को मिटाता हुआ अन्ततः पृथिवी को धारण करता है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक बहुत बड़ा सत्य इस सूक्त में सचाई के साथ स्वीकार किया गया है; वह यह है कि भाषा जन और धर्म की दष्टि से हमारी अनेक विभिन्नताएँ हैं—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् ॥ (४५)

यहाँ पर अनेक प्रकार के जन रहते हैं। उनकी भाषाएँ विविध प्रकार

---

(१) यत्ते ऊनं तत्ते आपूरयति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य। (६१)

की हैं। अपने-अपने प्रदेशों के अनुसार वे नाना धर्मों के माननेवाले हैं, किन्तु इस प्रकार की विभिन्नता को जो प्रकृति की ओर से हमें मिली है जन सहर्ष स्वीकार करता है और इस कठिनाई को अपनी बुद्धि से जीतता है। विभिन्न होते हुए भी प्रजाओं में समग्रता या एकता का भाव मन के ऊँचे धरातल पर विद्यमान है—

ता नः प्रजाः दुह्रतां समग्रा
वाचो मधु पृथिवी धेहि मह्यम् ॥(१६)

विश्व के इतिहास में विभिन्न सामग्री को एक में ढाल कर ऐक्य-संपादन का इतना विशाल और सफल प्रयोग किसी दूसरे देश में नहीं हुआ जैसा आज तक भारतवर्ष में होता रहा है। अनेक संस्कृतियों के आदान-प्रदान से समन्वय-प्रधान भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। यहां के लोगों की दृष्टि में इस प्रकार का ऐक्य भाव सर्वोपरि था जिसमें प्रत्येक समुदाय को बिना उखाड़े या नष्ट किये हुए, समग्र शरीर का राष्ट्रीय अंग मानकर स्वयं विकसित होने के लिये स्वतन्त्र रहने दिया गया हो। एक ही मातृभूमि पर बसने के कारण एकता का भाव शनैः शनैः भिन्न-भिन्न जनों के ऊपर भी अपना असर डालने लगता है। एकता की यह प्रक्रिया दो प्रकार से अपना प्रभाव दिखाती है, एक स्थूल जीवन में, दूसरे विचारों के धरातल पर। पहले प्रकार की एकता का वर्णन पृथिवी की गन्ध के रूप में और दूसरी का पृथिवी से उत्पन्न होने वाली अग्नि के रूप में किया गया है।

हमारी मातृभूमि की गन्ध अपना विशेष प्रकार रखती है। पृथ्वी से उत्पन्न इस गंध का नाम ही राष्ट्रीय विशेषता है। जिनका जन्म भारतीय भूमि में हुआ है उनमें भारत की गन्ध बसी हुई है। वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्य और संस्थाएँ, भाषा और विचार, सभी पर यह नियम लागू है। सब अपनी भूमि की गंध से सुवासित हैं। स्त्री और पुरुषों में वही गन्ध प्रकट होती है। मातृभूमि की वह छाप प्रत्येक व्यक्ति अपने मस्तक पर धारण करता है। स्थूल रूप में भी हम सब

अपनी-अपनी मातृभूमि के अंग हैं और यह असम्भव है कि हम उस गन्ध को हटा सकें। हम जहां भी होंगे उस गन्ध से पहचाने जाएंगे। यह गन्ध आज कोई नई बात नहीं है। पूर्व समय में पृथिवी के साथ ही यह गन्ध भी प्रकट हुई थी। जल और ओषधियों में भी यही बसी हुई है। गन्धर्व और अप्सराओं ने इसी गन्ध को अपने शरीर में धारण किया। भूमि की विशेषता की यह छाप मनु के समय से आज तक सदा देखी गई है। मातृभूमि की जो गन्ध पूर्व युग में थी वही आज है। मातृभूमि की जो 'अग्रगन्ध' राष्ट्रीय उदय के प्रथम प्रभात में देवों को मिली थी, जिसे सूर्या के विवाह में एकत्र हुए अतिथियों ने कमल रूप में सूंघा था, आज भी हमारे सामने जो कमल खिलते हैं उनमें वही गन्ध है। सचमुच भूमि और राष्ट्र के विकास का प्रवाह एक और अखंड है। युवतियों के रूप में, पुरुषों की वीरता में, अश्व मृग और हाथियों में उसी अग्रगन्ध की शोभा आज तक विद्यमान है[1]।

जन की एकता का दूसरा रूप मानस जगत् की भावना है। भावना ज्ञान का प्रकाश या ज्योति है। ज्योति का वैदिक चिन्ह अग्नि है, इसीलिये कवि उस मनोमय प्रकाश को सब में व्याप्त समझ कर कहता है—'पुरुषों और स्त्रियों में, अश्व और गोधन में, द्युलोक और अन्तरिक्ष में, जल और ओषधियों में, भूमि और चट्टानों में एक अग्नि बसी हुई है'। इस अग्नि को प्रज्वलित करना एक युक्ति है। जिस समय यह अग्नि जनता के मन में धधकने लगती है, मरणधर्मा मनुष्य भी अमर्त्य बन जाता है। वस्तुतः भावना की अग्नि ही देवता है, उसके द्वारा मातृभूमि के पुत्र अमृतत्त्व या देवत्व का भाव प्राप्त करते हैं। कवि की दृष्टि में भूमि अग्नि का वस्त्र ओढ़े हुए है (अग्निवासाः पृथिवी,२१)। पृथिवी मां का घुटना काला है (असितज्ञु, २१)। यह सत्य है कि पुत्र माँ के जिस घुटने पर बैठता है उसका भौतिक रूप काला या प्रकाश रहित है।

---

(१) यस्ते गन्धः पृथिवी संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
मानो द्विक्षत कश्चन॥

हममें से प्रत्येक मां के उस घुटने पर बैठा हुआ है। जब हम माता-पुत्र के सम्बन्ध का स्मरण कर मातृमान् बनते हैं और अपने हृदय के भावों से उस आग को जलाते हैं जो भूमि में व्याप्त है और मातृभूमि ने जिस अग्नि का सुनहला वस्त्र पहन रक्खा है, तो वह घुटना या माता की वह गोद चमकने लगती है। हम स्वयं उस तेज से प्रकाशित और तीक्ष्ण बन जाते हैं[1]। भूमि से ही प्राण की धाराएं प्रवाहित होती हैं। कोई व्यक्ति, जन समुदाय या जाति जब तक भूमि के साथ सम्बन्धित नहीं होती वह निष्प्राण रहती है। मातृभूमि का दिव्य रूप अनेक राष्ट्रीय वेगों का स्रोत है (सा नो भूमिः प्राणं आयुर्दधातु)। मातृभूमि के सब पुत्र एक से नहीं होते। कुछ में देश-प्रेम की उत्कट भावना प्रबुद्ध हो जाती है, शेष साधारण जीवन व्यतीत करते हैं। जिनमें प्राण और भावना है वे दैवी गुणों से युक्त हैं। उन देवों के लिये पृथिवी पर यज्ञ सजाए जाते हैं। जो केवल मानुषी भावों से प्रेरित हैं उनके लिये अन्न और पान के सामान्य भोग हैं (२२)।

भूमि पर अच्छे और बुरे दोनों तरह के लोग रहते हैं। वह माता दोनों का पोषण करती है—ज्ञानी गुरु और मूर्ख दोनों का भरण उससे होता है। भद्र और पापी दोनों की मृत्यु उसी की गोद में होती

---

(१) अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं माकृणोतु। (२१)

यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु
यस्ते गन्धः पुष्कर माविवेश
यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवी गन्धमग्रे
तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥
यस्ते गन्धाः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषुग।
कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्मां अपि संसृज
मा नो द्विक्षत कश्चन॥(अथर्व० १२। १। २३–२५)

है (४८)। सब दाहिनी-बाईं करवट से उसी पर लेटते हैं और वह सभी का बिछौना बनी है। (सर्वस्य प्रतिशीवरी,२४)। उसके जनायन मार्ग भले-बुरे सबके लिये बिछे हैं (४७)। माता के रूप में वह क्षमाशील धात्री है, उसका नाम क्षमा है (क्षमां भूमिम्२९)। सहिष्णुता का सबसे बड़ा आदर्श वह स्वयं है। भूमि सबसे महती शोधक-शक्ति (विमृग्वरी, ३५) है। जिनके हृदय में राष्ट्र के प्रति मैल है वे जब भूमि की शरण में जाते हैं तो उनकी मलिनता धुल जाती है।

जन और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की एक विशेषता यह है कि जन समष्टि का रूप है और अमर है, एवं व्यक्ति की आयु परिमित है। व्यक्ति का जीवन एक पीढ़ी में समाप्त हो जाता है, जन युगान्तर तक स्थिर रहता है। इसलिये भी हमारे सब कर्मों का उद्दिष्ट फल जन के लिये होना चाहिए। अन्ततोगत्वा जन के फलने-फूलने से व्यक्ति भी बढ़ते हैं। जन से अलग व्यक्ति के जीवन की कल्पना असम्भव है।

भूमि के साथ जन का सम्बन्ध आज नया नहीं है। यह पृथिवी हमारे पूर्व-पुरुषों की भी जननी है। इसकी गोद में जन्म लेकर पूर्वजनों ने अनेक विक्रम के कार्य किए—

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे। (५)

उन पराक्रमों की कथा ही हमारे जन का इतिहास है। पूर्व पुरुषों न इस भूमि को शत्रुओं से रहित (अनमित्र,असपत्न) बनाया। उन्होंने युद्धों में दुन्दुभिघोष किया (यस्यां वदति दुन्दुभिः, ४१) और आनन्द से विजयगान करते हुए नृत्य और संगीत के उत्सव किए (यस्यां नृत्यन्ति गायन्ति व्यैलबाः, ४१)। जनता की हर्ष-वाणी और किलकारियों से युक्त गीत और नृत्य के दृश्य एवं अनेक प्रकार के पर्व और मंगलोत्सवों का विधान संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, जिसके द्वारा जनता में एकता उत्पन्न होती है। यहाँ असुरों और देवों की भिड़न्त पहले भी हुई है, पर देवों की विजय राष्ट्रीय-विजय है। आज तक जनता के मन में यही आदर्श जीवित है और भविष्य में भी रहेगा।

इस पृथिवी के पुत्रों को विश्वकर्मा कहा गया है (यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः, १३)। अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों की योजना उन्होंने की है और आज भी वे नये-नये आयोजन उठाते रहते हैं। पृथिवी के विशाल खेतों में उनके दिन-रात के परिश्रम से चारों ओर धान्य-सम्पत्ति लहलहाती है। बुद्धि और श्रम से उन्होंने अनेक नगरों का निर्माण किया है जो देव-निर्मित-से जान पड़ते हैं। संस्कृति के अनेक अध्यायों का निर्माण नगरों में हुआ है। पृथ्वी पर जो ग्राम और अरण्य हैं उनमें भी सभ्यता के अंकुर फूले-फले हैं।

संस्कृति

भूमि राष्ट्र का शरीर है, जन उसका प्राण है और जन की संस्कृति राष्ट्र का मन है। भूमि, जन और संस्कृति तीनों के सुन्दर सम्मिलन और उन्नति से ही राष्ट्र की आत्मा का निर्माण होता है। भूमि और जन के अभ्युदय का अन्तिम लक्ष्य उत्तम संस्कृति ही है। राष्ट्र में सोने के सुमेरु पर्वतों का संचय उसके स्थूल रूप की सजावट है, किन्तु ज्ञान, संकल्प और साधना के द्वारा राष्ट्र के मन का विकास होता है। पृथिवी पर मनुष्य दो प्रकार से अपने आपको प्रतिष्ठित करता है—एकक्षत्र विजय या सैनिक बल द्वारा और दूसरे ब्रह्म विजय या ज्ञान बल द्वारा। क्षत्र-विजय (पोलिटिकल एम्पायर) महान् पराक्रम का कार्य है, किन्तु ब्रह्म-विजय (कल्चर एम्पायर) उससे भी महान् है। क्षत्र-विजय का इतिहास जन के लिये गौरव-पूर्ण होता है, किन्तु भूमि की धर्म विजय चारों ओर शान्ति और सुख का वितरण करती है। जैसा कहा है—यह पृथिवी ब्रह्म या ज्ञान के द्वारा संवर्धित होती है।

ब्रह्मणा वावृधाना (२९)।

ब्रह्म-विजय के क्षेत्र में एक व्यक्ति भी ज्ञान और कर्म की पूरी ऊंचाई तक उठकर दिग्विजय का आदर्श स्थापित कर सकता है। एक छोटा जनपद भी ज्ञान की विजय द्वारा विश्व में प्रसिद्ध हो जाता है। व्यक्तियों और जनपदों द्वारा भारतवर्ष की सांस्कृतिक विजय समस्त

देश में व्याप्त हुई। एक-एक गांव, नदी, पर्वत और जंगल को व्याप्त करती हुई यह संस्कृति देशान्तरों और दीपान्तरों तक पहुँची। दर्शन, धर्म, साहित्य और कला के रूप में भारतवर्ष की ब्रह्म-विजय को संसार के कितने ही देशों में मान्यता प्राप्त हुई जिसके अनेक प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं। भारत के पड़ोसी देशों की संस्कृति इसकी साक्षी है। वृहत्तर भारत का अध्ययन भारतीय चातुर्दिश ब्रह्म-विजय के गौरवपूर्ण अध्यायों से हमारा परिचय कराता है।

इस ब्रह्म-विजय या सांस्कृतिक राज्य का रहस्य क्या है? आध्यात्मिक जीवन के जो महान् तत्त्व हैं वे ही संस्कृति के आधार हैं। यह पृथिवी उन्हीं पर टिकी है। सूक्त के पहले ही मन्त्र में राष्ट्र की इस आधार शिला का उल्लेख है—

सत्यं बृहद्‌त मुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥

सत्य, महान् और कठोर ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ इस पृथिवी को धारण करते हैं। जो पृथिवी हमारे भूत और भविष्य की अधिष्ठात्री है वह हमें विस्तृत लोक प्रदान करने वाली हो।

ज्ञात होता है कि आरम्भ में ही सांस्कृतिक विजय के तीन तत्त्व स्पष्ट समझ लिये गए थे। वे तीन बात ये हैं। सत्य, ऋत आदि नियम, जिस प्रकार आध्यात्मिक जीवन के आधार हैं उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन के भी मूलाधार हैं। वे ही संस्कृति के मूलाधार हैं। दूसरी बात यह है कि भूतकाल में और भविष्य में राष्ट्र और पृथिवी का जो पारस्परिक सम्बन्ध है वह संस्कृति के द्वारा ही स्थिर रहता है। संस्कृति के लोप से ही राष्ट्र और भूमि का भी लोप हो जाता है। तीसरा तत्त्व यह है कि ब्रह्म-विजय के मार्ग में पृथिवी की दिक्‌सीमाएं अनंत हो जाती हैं। एक जनपद से जो संस्कृति की विजय उठती है उसकी तरंगें देश में फैलती हैं और पुनः देश से बाहर समुद्र और पर्वतों को लाँघती हुई देशान्तरों में और समस्त भूमंडल में फैल जाती हैं। यही पृथ्वी द्वारा उरु-

लोक प्रदान करना है । इस अर्थ में प्रत्येक देश की भूमि अपने जन को दूसरों के साथ अविरोध स्थिति द्वारा उरुलोक प्रदान कर सकती है ।

सत्य और ऋत जीवन के दो बड़े आधार स्तम्भ हैं। कर्म के सत्य का नाम सत्य है और मन के या विचारों के सत्य का नाम ऋत है । कर्म सत्य और मानस सत्य इनके सम्मिलित बल से राष्ट्र बलवान् होता है। इन दो प्रकार के सत्यों को प्राप्त करने के लिये जीवन के कटिबद्ध व्रत का नाम दीक्षा है। दीक्षित व्यक्ति सत्य के साथ आँख से आँख मिलाकर देखता है। दीक्षा के अनन्तर जीवन में जो साधना की जाती है वही तप है। तप के फल का विश्व-हित के लिये विसर्जन यज्ञ है । उन पाँचों को प्राप्त करने की बुद्धि या भावना ही ब्रह्म या ज्ञान है ।

मातृभूमि का स्थूल रूप पत्थर चट्टान और मिट्टी का एक जमघट है, किन्तु इस मातृभूमि के पास एक हृदय है। जो ध्यान की शक्ति से देखते हैं उन्हें इस हृदय का परिचय होता है। केवल मन की शक्ति से मातृभूमि के हृदय के निकट पहुँचा जा सकता है । ऋषि के शब्दों में मातृभूमि का हृदय सत्य से घिरा हुआ है और वह अमर है। उस हृदय का निवास किसी शिला या भूमि में नहीं है वह परम व्योम या भावनाओं के महान् आकाश में है। कहा गया है कि पहले यह पृथिवी जल के भीतर छिपी हुई थी, पूर्व मनीषी अपने ध्यान की शक्ति से इसके पीछे चले तब यह उनके लिये प्रकट हुई। ऐसी यह भूमि उत्तम राष्ट्र में हमें तेज और बल प्रदान करने वाली हो।[1] यह अत्यन्त काव्यमय कल्पना है कि आरम्भ में यह पृथिवी समुद्र के नीचे छिपी थी। उस समय विश्वकर्मा ने अपनी हवि डाली। ब्रह्मा की सृष्टि में जितने पदार्थ

---

(१) यार्णवेऽधि सलिल मग्र आसीद्यां मायाभिरन्ववचरन्मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विर्षि बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ (७)

हैं वे सब विश्वकर्मा की हवि में सम्मिलित हैं। इस मातृभूमि के पास भोगों से भरा हुआ एक पात्र है, वह पहले अदृश्य था। जो मातृमान् हैं वह केवल उनके लिये प्रकट होता है (भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदा विर्भोगे-ऽभवन्मातृवद्भ्यः ६०)। वस्तुतः माता का स्तन पुत्र के लिये भुजिष्य पात्र है। जन्म से पहले वह पात्र गुहानिहित रहता है, पर जन्म लेते ही मातृमान् पुत्रों के लिये उस पात्र में क्षीर प्रकट हो जाता है। इसी उपमा के अनुसार ऋषि की कल्पना है कि राष्ट्र में जितने जन हैं वे अपनी पृथ्वीपुत्र भावना के आधार पर ही भूमि से प्राप्त होने वाले भोगों के अधिकारी बनते हैं। जो मातृमान् नहीं है, मातृभूमि को अपनी माता नहीं समझता, जिसमें पृथिवीपुत्र भावना का अभाव है, ऐसे व्यक्ति जन या समुदाय को राष्ट्र से मिलने वाले लाभ और भोगों पर कोई नैतिक अधिकार नहीं। माता और पुत्र, पृथ्वी और जन दोनों की वृद्धि साथ-साथ होती है (सानो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना, १३)।

कवि की दृष्टि में यह भूमि सब भुवनों में अग्रणी है, इसी कारण ऋषि ने उसे 'अग्रेत्वरी' (आगे जाने वाली)[1] कहा है। इस नेतृत्व-पद के पीछे सहस्रों वर्षों की साधना और कर्मशक्ति छिपी हुई थी। जो भूमि स्वयं अग्रणी है वही अपने पुत्रों को प्रतिष्ठा और सम्मान का स्थान प्राप्त करा सकती है (पूर्वपेये दधातु)।[2] राष्ट्र की इस उत्तम स्थिति के व्यवहार सूत्र इस प्रकार कहे गए हैं—

१—"मैं जो कहता हूँ उसमें शहद की मिठास घोलकर बोलता हूँ।"

२—'जिस आँख से मैं देखता हूँ उसे सब चाहते हैं।' हमारा दृष्टि-कोण विश्व का दृष्टिकोण है अतएव सबके साथ उसका समन्वय है; किसी के साथ उनमें विरोध या अनहित का भाव नहीं है।

---

(१) भुवनस्य अग्रेत्वरी (अग्र+इत्वरी) लीडर आव आल दी वर्ल्ड (ग्रिफिथ अथर्व० १२।१।५७)।

(२) पूर्वपेय—फोरमोस्ट रेंक एंड स्टेशन, ग्रिफिथ।

३—'परन्तु मेरे भीतर तेज (त्विषि) और शक्ति (जूति) है।' हमारा व्यवहार और स्थान वैसा ही है जैसा तेजस्वी और सशक्त का होता है।

४—'जो मेरा हिंसन या आक्रमण (अवरोधन) करता है उसका मैं हनन करता हूँ।' इस नीति में राष्ट्र के ब्रह्मबल और क्षत्रबल का समन्वय है।

इस भूमि की अन्तरात्मा अध्यात्म भावों के साथ मिली हुई है (संविदाना दिवा ६०)। धर्म के नियम इसे धारण कर रहे हैं (धर्मणा धृता, १७)। जीवन और सृष्टि को धारण करने वाले नियमों की संज्ञा धर्म है। मतमतान्तरों का नाम धर्म नहीं, किन्तु सत्य का ही पर्याय धर्म है। इस भूमि में आरम्भ से ही सर्वसम्मति से धर्म के कल्पवृक्ष का रोपण किया गया। इसके पुत्रों ने जानबूझकर इन्द्र का वरण किया, वृत्रासुर का नहीं **(इंद्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्, ३७)**।

इस प्रकार संस्कृति के उषःकाल में ही मातृभूमि के आदर्श स्वरूप की कल्पना की गई। इस आदर्श की एकता में ही राष्ट्र की वास्तविक एकता है। जैसे घोड़ा अपने शरीर से धूल झाड़ता है उसी प्रकार इस पृथिवी पर जन चारों ओर फैल गए (५७) और सब यथास्थान बस गए। ये सब घटनाएँ अपेक्षाकृत गौण हैं, किन्तु मातृभूमि के इस आदर्श-स्वरूप का अस्तित्व, उसकी मान्यता और भक्ति यही जन की समग्रता और एकता करने वाला अन्तर्यामी सूत्र है। जो इस सत्य के आदर्श को मानते हैं वे ही मातृभूमि के सच्चे पृथिवीपुत्र हैं।

अध्याय ५

तीर्थ और पुण्य-क्षेत्र

जन का मातृभूमि के प्रति उत्कट प्रेम तीर्थों की कल्पना के रूप में प्रकट हुआ। तीर्थ भूमि पर फैलते हुए जन सन्निवेश के नये-नए केन्द्र थे। ऊपर कहा गया है कि यज्ञों का सिलसिला नदियों के किनारे आगे बढ़ा। अग्नि की नई-नई वेदियाँ नये सन्निवेशों के रूप में स्थापित होने लगीं। वे ही तीर्थों के रूप में जन के लिये नये निवास केन्द्र बने। फैलते हुए जन ने प्रत्येक भू-भाग के साथ स्व या अपनेपन का सम्बन्ध स्थापित किया। इस सम्बन्ध को बनाने की सबसे प्रभावशाली युक्ति भूमि को देवत्व प्रदान करना है। जिस भू प्रदेश को हम देवता मान लेते हैं उसका अस्तित्व और आकर्षण अमर हो जाता है। नदियों, पर्वतों और जंगलों से भरे हुए विशाल देश में भूमि के साथ आत्मीयता स्थापित करने के लिये सबसे सुन्दर और स्थायी युक्ति तीर्थ निर्माण

के रूप में स्वीकृत हुई। प्रत्येक नदी, जलधारा, झरना, कुंड, जलाशय और पर्वत का नामकरण करना और उसके साथ किसी-न-किसी देवता, पूर्वज, ऋषि एवं तपस्वी का सम्बन्ध जोड़ना यह तीर्थ निर्माण का आवश्यक अंग है। इस प्रकार जो स्थान देवत्व प्राप्त कर लेते हैं वे जन की भावनाओं के साथ अन्तरंग रूप से जुड़ जाते हैं। उन तीर्थों की सर्वमान्यता के द्वारा जन में परस्पर ऐक्य का प्रसार होता है। उदाहरण के लिये, हिमालय में भारतीय तीर्थस्थानों के महत्त्वपूर्ण गुच्छे हैं। हिमालय केवल पत्थर-मिट्टी का ढेर नहीं है, वह लता वनस्पति, ओषधि, पुष्प और रत्नों का निरा उत्पत्ति स्थान नहीं है। हिमालय का सच्चा स्वरूप कवि के शब्दों में देवतात्मा है, उसके प्रदेश देवभूमियाँ हैं (कालिदास)[1]। हिमालय के देवता होने की यह भावना समस्त राष्ट्र में व्याप्त हो गई। देश का कोई भाग ऐसा नहीं बचा जहाँ कि जनता ने हिमालय सम्बन्धी इस दृष्टिकोण को न अपना लिया हो। इस विश्वास के सर्वत्र मान्य होने के कारण पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण से सब लोग हिमालय दर्शन के लिये आने लगे और आज भी उस अभिलाषा से आते हैं। हिमालय के सम्बन्ध में यह संस्कार बचपन से ही प्रत्येक भारतीय के मन में दृढ़ हो जाता है। हिमालय का यह देवत्व कोरी कवि-कल्पना भी नहीं है जिस पर्वतराज के उच्च शिखरों की हिमराशि मातृभूमि का सुन्दर मुकुट है, जो हमारे मेघजल, वर्षा-संस्थान और ऋतुचक्र के क्रम को चलाता है, जिसने अपनी नदियों द्वारा करोड़ों वर्षों के निरन्तर श्रम से हमारे लिये पवित्र, विस्तृत और

---

(१) अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः। (कुमारसंभव १।१) दिवं यदि प्रार्थयसे वृथाश्रमः पितुः प्रदेशास्तव देव-भूमयः ॥ (कुमार० ५।४५)। ब्रह्मचारी वेश में शिव पार्वती से कहते हैं—'यदि स्वर्ग की अभिलाषा से तप करती हो तो श्रम व्यर्थ है, क्योंकि हिमालय के स्थान स्वयं देवभूमि है।'

सुन्दर मातृभमि का निर्माण किया है, उस हिमालय का देवत्व स्वयं सिद्ध है। उसके उपकार से भारतीय मानव का मन अचम्भे में आ जाता है। मातृभूमि के लिये हिमालय के अनुग्रह अनेक प्रकार के हैं। हमारे पूर्वजों ने हिमालय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। उसके दिव्य रूप के दर्शन के लिये वे यात्रा दल बना कर निकले और हिमालय के अन्तर में बैठ कर उसके स्वरूप का अन्तरंग परिचय प्राप्त किया। हिमालय के भूगोल का निर्माण शतप्रतिशत भारत राष्ट्र की देन है। हिमालय की जो तीन लम्बी बाहियाँ एक दूसरे के समानान्तर पूरब-पश्चिम चली गई हैं उन्हें भी प्राचीन भारतीयों ने अपनी पैनी आँख से पहचान लिया था। उनके नाम बहिर्गिरि, उपगिरि और अन्तर्गिरि हैं (सभा० २७।३)। बहिर्गिरि में सिवालक तराई भाभर के जंगल हैं। वनस्पति और जन्तुओं की विविधता में संसार का कोई हिस्सा शिवालक और उसकी दूनों का मुकाबला नहीं कर सकता। इससे ऊपर चार हजार से आठ-नौ हजार की फुट की ऊँचाई तक हिमालय की उपगिरि नाम की शृंखला है जिसे पाली में 'चुल्लहिमवन्त' (अं० लैसर हिमालय) कहा गया है। कश्मीर, चम्बा, कांगड़ा, शिमला, गढ़वाल, कुमाऊं आदि की प्रसिद्ध और मुख्य बस्तियाँ इसी में हैं, जैसे नैनीताल, मसूरी, शिमला आदि। हिमालय का अन्तर्गिरि भाग उसकी गर्भ शृंखला के ऊँचे पहाड़ों में है, जिसे पाली साहित्य में 'महाहिमवन्त' (अं० ग्रेट सेंट्रल हिमालय) कहा गया है। नंगा पर्वत, बंदरपूंछ (यामुनपर्वत), केदारनाथ, बदरीनाथ, नन्दादेवी, धवलगिरि, गोसाईंथान, गौरीशंकर आदि १८–२० हजार फुट और उससे अधिक ऊँची चोटयाँ इसी में हैं जिन पर सदा बर्फ जमी रहती है[1]। हिमालय

---

(१) जयचन्द्रविद्यालंकार, भारतभूमि, पृ० १११, जहां हिमालय के भूगोल का अत्यन्त सुलझा हुआ विवेचन है। हिमालय के देव भूमि बनने का कारण है वहां विष्णु और शिव जैसे देवों की तपश्चर्या। इन देवताओं के लिये भी जीवन में दीर्घकालीन

की ये तीन शृंखलाएं इस पहाड़ पर चढ़ने की मानो तीन सीढ़ियाँ है जिनमें से पहली सीढ़ी 'हर की पैड़ी' के रूप में गंगाद्वार या हरिद्वार में शुरू होती है।

हिमालय को देवस्थान बनाने के लिये सबसे पहला प्रयत्न नामकरण के रूप में प्रकट हुआ। भौगोलिक नाम पुरातत्त्व के स्मारकों से भी अधिक स्थायी होते हैं। इस विषय में हिमालय के भूगोल का अध्ययन करने वाले बुरर्ड और हेडन नामक विद्वानों ने उसके सुन्दर काव्यमय नामकरण से प्रभावित होकर इस प्रकार लिखा है—'प्राचीन नाम अपने संगीत और ताल से हमें प्रभावित करते हैं। हिमालय और कैलास जैसे नाम प्राचीन स्मारक हैं, जिनकी तुलना अशोक के स्तम्भों से की जा सकती है। गंगोत्री और बदरीनाथ जैसे नाम उन आर्य यात्रियों के साहस और उद्योग की याद दिलाते हैं जो हिमालय के जोते घाटे और दरी द्रोणियों में घुस जाने वाले पहले घुमक्कड़ थे। हिमालय पर गंगा की द्रोणी में नदी धाराओं, देवस्थानों, चोटियों और बस्तियों के नाम संस्कृत भाषा के सौन्दर्य के अनुपम उदाहरण हैं[१]।' और भी, 'हिमालय में गंगा की द्रोणी की भौगोलिक छान-बीन ईसा से सैकड़ों वर्ष पहले आर्य लोग कर चुके थे। उन्होंने नदी का नाम गंगा रक्खा और उसे हिमवन्त की

कठोर तपश्चर्या मानसिक समाधि की कल्पना सचमुच अद्भुत है। जहां इस समय विशाला बदरी है वहां गन्धमादन पर्वत की चोटी पर नर नारायण ने आश्रम बनाकर तप किया। वनपर्व में लिखा है कि कृष्ण ने विशाला बदरी में एक पैर से खड़े होकर केवल वायु खाकर सौ वर्ष तक तप किया (वनपर्व १०१)। कैलास पर शिव ने दीर्घकाल तक अखण्ड समाधि लगाई। इस प्रकार इन महान् देवों की तपश्चर्या द्वारा हिमालय को यह पवित्रता मिली।

(१) ए स्कैच आव दी ज्योग्राफी एण्ड दी ज्यालाजी आव दी हिमालय, भाग १, पृ० ७

पुत्री कहा। हिमालय में गंगा की दो शाखा नदियों को उन्होंने अलक-नन्दा और भागीरथी नाम दिया, पिछला नाम राजा भगीरथ से पड़ा है। रामायण में गंगा को समुद्रपत्नी कहते हुए अत्यन्त पवित्र और पाप-हारिणी कहा गया है। आज गंगा भारतवर्ष की सबसे पवित्र नदी है। हिमालय के भी किसी अन्य प्रदेश में भौगोलिक नामों का ऐसा काव्यमय सिलसिला नहीं मिलता जैसा गंगा से युक्त हिमालय के प्रदेश में; और न संसार में अन्यत्र कहीं भौगोलिक नामों की इतनी मूल्यवान और प्राचीन निधि पाई जाती है। ये नाम प्राचीन भारतीय भूगोल शास्त्रियों की कला के अद्‌भुत नमूने हैं; अर्वाचीन भूगोल न केवल इनकी प्रशंसा करता है बल्कि इनसे ईर्षा भी' (वही, भाग ३, पृ० ८०)। जैसा हम भूमि परिचय नामक अध्याय में बता चुके हैं अलकनन्दा, भागीरथी, मन्दाकिनी, जाह्नवी, इन चार मुख्य धाराओं के सम्मिलन से गंगा बनी हैं। इनके अतिरिक्त विष्णु गंगा, विरहीगंगा, वसुगंगा, क्षीरगंगा आदि अन्य कितने ही नाम इस भौगोलिक काव्य के सुन्दर पद हैं। संस्कृत नामों का यह अध्याय देश के प्रत्येक भू-भाग में फैला हुआ है। स्वयं हिमालय से मैदानों की ओर बहकर आनेवाली नदियों के नाम कितने सुन्दर हैं? सरयू, इरावती (सदानीरा), कौशिकी, वाग्मती, विष्णुमती, अरुणा, ताम्रा, त्रिस्रोतसा, करतोया, ब्रह्मपुत्र आदि नाम अतीव सुन्दर हैं।

इन नामों पर संस्कृत भाषा की छाप है। आर्यजाति ने जिस प्रकार शनैः शनैः समस्त देश को अपने उपनिवेश चक्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया उस दीर्घकालीन शृंखला की कड़ियाँ इन नामों में मिलती हैं। नामों के रूप में भूमि पर मानो जन की भाषा और भावों की अमिट छाप लगी हुई है।

भौगोलिक नामकरण के पीछे यह तत्त्व छिपा हुआ है कि प्रत्येक स्थान के साथ जन के इतिहास का अभिन्न सम्बन्ध है। अवश्य ही जिस समय भारतीय मनुष्य इस भूमि पर फैले और उन्होंने इस पर अधिकार किया उनके पराक्रम का इतिहास और उनके पथिकृत् नेताओं के चरित्र

और नाम भूमि के साथ सम्बन्धित हो गए। वसिष्ठ, विश्वामित्र, भृगु, कण्व, अगस्त्य आदि अनेक ऋषियों के नामों से स्थानों का नामकरण किया गया। नामकरण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण वे स्थल माहात्म्य हैं जो भिन्न-भिन्न स्थानों के लिये बनाए गए। भूमि को देवत्व प्रदान करने की पूरी युक्ति इन माहात्म्यों में है। हम उस पूर्व युग की कल्पना कर सकते हैं जब जनता के बढ़ते हुए रथ का पहिया किसी सरोवर या नदी के तट पर रुका होगा। पथिकृत् पूर्व पुरुषों ने श्रद्धा से मातृ-भूमि के उस भाग को प्रणाम किया होगा। वहाँ उन्होंने यज्ञ किए, वेदियाँ और यूप स्थापित किए, किसी देवता का सम्बन्ध स्थापित किया, किसी ऋषि या महापुरुष के चरित्र की लीलास्थली बनाई, अथवा किसी तपस्वी के तप के क्षेत्र के रूप में उसे देखा और उस विशेष भूमि की प्रशंसा में एक माहात्म्य रचा। इस प्रकार जिस तीर्थ का निर्माण हुआ उस समय वही केन्द्र उनकी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण था, मातृभूमि के गूढ़ हृदय को उसके रूप में वे प्रत्यक्ष देखते थे। इस प्रकार चारों दिशाओं में पवित्र तीर्थों का जाल बिछ गया।

ये तीर्थ स्थान किसी एक धर्म या सम्प्रदाय तक सीमित नहीं हैं। प्रत्येक मत और विश्वास के लोगों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इन स्थानों की कल्पना की है। कभी-कभी एक ही पुण्य स्थल में कई धर्मों के अनुयायियों ने अपने केन्द्र बनाए, और परस्पर के मिलने से जनता में एक दूसरे के देवताओं का आदान-प्रदान हुआ। ये स्थान महातीर्थ बने। जो केन्द्र धर्म, विद्या, व्यापार और राजनीति इन चारों दृष्टियों से महत्वपूर्ण थे वे महापुरी के रूप में समस्त देश में मान्य समझे गए। स्कन्दपुराण के काशीखंड में कहा है कि तीर्थों के दो भेद हैं, मानस तीर्थ और भौमतीर्थ। जिनके मन शुद्ध हैं, जो आचारवान् ज्ञानी और तपस्वी हैं, ऐसे लोग मानसतीर्थ हैं। जितेन्द्रिय जहां रहते हैं वहीं वे तीर्थ बनाते हैं। भौमतीर्थ चार प्रकार के हैं, अर्थतीर्थ (नदियों के तट और संगम पर व्यापार केन्द्र), धर्मतीर्थ (प्रजाओं के धर्मपालन के निमित्त पवित्र धर्मनीति के केन्द्र),

कामतीर्थ (कला और सौन्दर्य साधना के केन्द्र), एवं मोक्षतीर्थ (विद्या, ज्ञान और अध्यात्म के केन्द्र)। जहाँ इन चारों का समवाय हो और जीवन की बहुमुखी प्रवृत्तियों के सूत्र मिलते हों, वे बड़े तीर्थ महापुरियों के रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं, जैसे काशी, प्रयाग, मथुरा, उज्जयिनी आदि। नगर निर्माण के लिये आवश्यक तत्वों का समावेश तीर्थों की रचना में भी पाया जाता है, किन्तु जनता की दृष्टि से तीर्थों में एक अतिमानवी आध्यात्मिक आकर्षण था जिसके कारण लोग सांसारिक स्वार्थों से ऊपर उठकर तीर्थों की ओर आकृष्ट होते थे। तीर्थों के प्रति सामान्य जनता के दृष्टिकोण को महाभारतकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—'ऋषियों ने वेदों में बहुत से यज्ञ कहे हैं। उनका फल जीते जी और मर कर लोगों को मिलता है, लेकिन दरिद्र जनता को वह फल कैसे मिल सकता है? यज्ञों के लिये ठाट-बाट और सामग्री की आवश्यकता होती है। निर्धन लोग अकेले, बिना बहुत व्यय के यज्ञों का फल पा सकें, इसकी युक्ति तीर्थ यात्रा है। वस्तुतः तीर्थों में जाने का पुण्य यज्ञों से भी अधिक है। जो पुण्य बहुत दक्षिणावाले अग्निष्टोमादि यज्ञों के करने से नहीं मिलता वह तीर्थ में जाने से मिलता है' (वन० ८०।३४।४०)। इस प्रकार जनता को भी सांस्कृतिक आन्दोलन में सम्मिलित करने के लिये तीर्थयात्रा बड़ी सहायक हुई। दूर बस्ती, जंगल और पहाड़ों में रहनेवाले लोग जो धर्म, संस्कृति, विद्या और सदाचार की प्रवृत्तियों से अपरिचित रहते थे वे भी तीर्थयात्रा के निमित्त स्वेच्छा से तीर्थ केन्द्रों में आते और उनके संस्कार ले जाते थे।

तीर्थयात्रा मातृभूमि के प्रति उत्कट प्रेम की सर्वथा अभिव्यक्ति है। यह देश पूजा की ऐसी विधि है जिससे धार्मिक भावों को बल मिलता है और साथ ही भौगोलिक चेतना बढ़ती है। तीर्थयात्रा से मिलने वाले पुण्य लाभ के पीछे और भी कितने ही लाभ छिपे हैं, जैसे स्थानों के प्राकृतिक सौन्दर्य का परिचय, वहाँ के अद्भुत शिल्प, स्थापत्य, कला और देवमंदिरों के दर्शन से कलात्मक शिक्षण, एवं भूगोल का साक्षात्

ज्ञान। मथुरा, काशी, कांची किसी समय कला के प्रसिद्ध केन्द्र थे। लाखों मनुष्य उनकी वार्षिक यात्रा करते और उस अद्‌भुत कला सामग्री को अपनी आँखों से देखते थे। आज उस सामग्री के कुछ टूटे-फूटे भाग हमारे संग्रहालयों में रह गए हैं, किन्तु वे जनता के जीवन का भाग नहीं बने हैं। तीर्थ कला के सार्वजनिक संग्रहालय थे जहां प्रतिवर्ष दर्शकों का तांता निश्चित था। काशी जैसे तीर्थों में विद्या की भी राजधानी थी। कितने ही तीर्थ-स्थान प्राकृतिक सौन्दर्य के विलक्षण स्थल हैं। वस्तुतः हम अपनी नई आंख से भी प्रकृति-सौन्दर्य का शायद ही कोई ऐसा स्थान ढूंढ सकें जिसे पहले से ही पहचान कर तीर्थ न बना लिया गया हो। पर्वतों की गुफाओं और नदियों के संगम की भारतीय मन के ऊपर पवित्र प्रतिक्रिया होती है। ऐसे स्थल मनुष्य के मन को प्रबुद्ध करते हैं और उसे प्रकृति में निगूढ़ रहस्यमयी शक्ति का चिन्तन करने की ओर प्रवृत्त करते हैं—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां। (ऋक्० ८।६।२८;
धिया विप्रो अजायत। यजु० २६।१५)

पर्वतों की गोद में, नदियों के संगम पर, ज्ञानी की बुद्धि उत्पन्न होती है।

इस सत्य का अनुभव सभ्यता के उषःकाल ऋग्वेद के युग में ही कर लिया गया था जब आर्य लोग चारों दिशाओं में भूसन्निवेश के सूत्र छोड़ रहे थे। इसी नींव पर तीर्थों की कल्पना हुई। हम देखते हैं कि हिन्दुओं की तीर्थयात्राएँ हिमाच्छादित पर्वत शृंगों और वृक्ष वनस्पतियों से भरे हुए अरण्यों की ओर ले जाती है जहां मानवी संसर्ग से अकलुषित प्रकृति शान्ति, आनन्द और प्राण की धाराएँ बहाती है। सुन्दर स्थलों के विषय में भारत का यह दृष्टिकोण पश्चिम से भिन्न है एवं प्रकृति के स्वर में स्वर मिला कर आनन्दोत्सव मनाने का ढ़ंग भी अलग है। सुन्दर स्थान मनुष्य में रंगरेलियों की चाह या भोग की भूख उत्पन्न नहीं करता; वह तो आत्मसंयम और एकान्त चिन्तन की

स्थल है जो मनुष्य के मन को झटका देकर ऊपर उठाता है और प्रकृति के अधिष्ठातृदेव के सान्निध्य में खींचता है। हिमालय में गंगा की उपरली धाराओं के मिलने से बने हुए अनेक प्रयाग इसके उदाहरण हैं। विष्णुप्रयाग[१], नन्दप्रयाग[२], कर्णप्रयाग[३], रुद्रप्रयाग[४], देवप्रयाग[५], और गंगा द्वार[६] के तीर्थस्थान एक ओर प्रकृति के अमित शोभास्थल हैं, दूसरी ओर धार्मिक दृष्टि से उनकी स्थिति बहुत ऊँची है। कल्पना कीजिए अमरीका के न्यागरा प्रपात कहीं गंगा के प्रपात होते तो वहां उजानी (उद्यान भोजन) और मनचंगे उत्सवों के स्थान में तीर्थ यात्राओं के दृश्य होते, वाटिकाओं के स्थान पर आश्रम, और विश्रान्ति गृहों के स्थान में मानवी कला के चमत्कारी प्रतीक देवालय होते।

---

(१) बद्रीनाथ की ओर से अवतीर्ण विष्णुगंगा जिसे सरस्वती भी कहते हैं, और द्रोणगिरि के पश्चिम से आई हुई धौली गंगा का जोशी मठ में संगम।

(२) विष्णुप्रयाग से बहकर आई हुई अलकनन्दा और नन्दाकना पर्वत से बहकर आई हुई नन्दाकिनी का संगम।

(३) नन्दाकोट और त्रिशूल शिखरों के जलों को लानेवाली पिंडरगंगा और अलकनन्दा का संगम।

(४) केदारनाथ की ओर से आने वाली मन्दाकिनी और अलकनन्दा का संगम।

(५) गंगोत्री से आनेवाली भागीरथी का अलकनन्दा के साथ संगम। अलकनन्दा की चौड़ी धारा धीर और शान्त है, किन्तु भागीरथी बड़े गर्जन-तर्जन के साथ उछलती हुई धारा से उसमें मिलती है। यह दृश्य अत्यन्त रमणीक है।

(६) देवप्रयाग से नीचे नदी की धारा का नाम गंगा पड़ता है। यही कनखल के पास पहली बार मैदान में उतरी है, इसे ही गंगा द्वार कहते हैं।

यहां के लोग प्रपात की शक्ति को स्थूल उपयोगिता के काम में न लगा कर वहां शरीर की सुध-बुध भुला देनेवाले चैतन्य के ध्यान में अपने आप को लीन करते[1]।

इस प्रकार प्राकृतिक स्थलों में तीर्थयात्रा ठेट भारतीय जीवन विधि है। बच्चे, बूढ़े, युवा, स्त्री, पुरुष सब इसमें भाग लेते हैं। भारतीय मानव के जीवन में इसका बहुत कुछ स्थान है। जब उपयुक्त समय आता है लाखों मनुष्यों के मन में हिलोर उठती है और वह देश के कोने-कोने से जनता को निकाल कर तीर्थ में एकत्र कर देती है। आज भी राष्ट्रीय जीवन की कोई दूसरी प्रेरणा इतनी बलवती नहीं है। कुम्भ के अवसर पर लगभग दस लाख यात्रियों का समूह हिमवन्त की पुत्री गंगा का अभिनन्दन करने के लिये हिमालय की गोद में भर जाता है। कार्तिक पूर्णिमा के दिन निर्मल आकाश की छिटकती चांदनी में लाखों व्यक्ति गंगा के किनारे एकत्र होकर सामूहिक स्नान करते हैं। प्रयाग में त्रिवेणी संगम, बद्रीनाथ, अमरनाथ, उज्जैन, गया, जगन्नाथपुरी, तिरुपति बालाजी, दक्षिण मदुरा, सेतुबन्ध रामेश्वर, द्वारका—इसी प्रकार के देश प्रसिद्ध तीर्थ हैं जो प्रतिवर्ष धर्म के द्वारा देश दर्शन के लिये जनता का आवाहन करते हैं। तीर्थयात्रा देश-दर्शन का बहुत सुन्दर साधन रहा है। पैदल यात्रा में लोगों को देश की तिल-तिल धरती के साथ परिचित होने का अवसर मिलता था। रेल की सुख सुविधाओं से पहले अत्यन्त कष्ट सहकर जनता देश भ्रमण की अपनी साध पूरी करती थी। तीर्थयात्रा के धरातल पर जनता की दृष्टि में सारा देश एक होता है। मन की उस पवित्र और उच्च भूमिका में प्रत्येक व्यक्ति मातृभूमि के शरीर को एक समझकर दिशा और दूरी के व्यवधान से ऊपर उठकर देखना चाहता है। बलूचिस्तान में हिंगुलाज तीर्थ, कश्मीर में

---

(१) राधाकुमुद मुकर्जी फन्डामैन्टल यूनिटि आफ इण्डिया, पृ० ३७,३८

अमरनाथ, असम प्रदेश में कामाक्षा तीर्थ और दक्षिण दिशा में कुमारी तीर्थ, ये देश की चारखूटों के चार पवित्र स्थान हैं जहां सब ओर के लाखों यात्री प्रतिवर्ष जाकर दर्शन करते हैं और मार्ग में आनेवाले अनेक रमणीक स्थानों को देखते हुए जाते हैं। कभी-कभी गांवों से सैकड़ों यात्रियों की टोलियां एक साथ उठती हैं। जैसे आजकल के घुमक्कड़ दल कन्धे पर थैला डालकर निर्द्वन्द मन से मुंह उठाए हुए केवल यात्रा का सुख लेने के लिए निकलते हैं, ऐसे ही पूर्वकाल में लोग कन्धे पर कांवर उठाते थे। इन्हें 'कंवरतिए' कहते हैं। मातृभूमि की एकता के स्वप्न को ये स्थूल प्रतीक द्वारा पूरा करते हैं। हिमालय में गंगोत्री का पूजनीय जल लेकर वे पद संचार से गांव-गांव विचरते हुए समुद्र के छोर पर स्थित सेतुबन्ध रामेश्वर में शिव पर उसे चढ़ाते हैं। तीर्थयात्रा भारतीय गृहस्थ और साधु सम्प्रदाय दोनों में ही अत्यन्त व्यापक मान्य और प्राचीन विधि है। सांस्कृतिक एकता को पोषित और संवर्धित करने में इसका बड़ा हाथ रहा है।

भारतवर्ष के तीर्थों का विवरण देश दर्शन के इस प्रभावशाली और व्यापक चित्र को बहुत अच्छे ढँग से हमारे सामने रखता है। इस मानचित्र का पहला सूत्र चार धाम की यात्रा है। ठेट देहात में भी हम चले जांय जहां लोगों का भौगोलिक ज्ञान बहुत ही सीमित है वहां भी चार धाम का नाम लोगों ने सुना होगा। जिनका भौगोलिक क्षितिज अपनी तहसील या जिले तक परिमित है वे भी उत्तर के बदरी-केदार, पूरब के पुरी जगन्नाथ, दक्षिण के सेतुबन्ध रामेश्वर और पश्चिम के द्वारका के नाम जानते हैं[1]। बहुत करके गांव में ऐसे व्यक्ति

---

(१) शंकराचार्य ने भी देश के चार कोनों में चार मठों की स्थापना की थी, बदरी केदार में ज्योतिर्मठ, पुरी में गोवर्धन मठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ और द्वारका में शारदा मठ। भारतीय दर्शन और धर्म के क्षेत्र में इन केन्द्रों ने पर्याप्त कार्य किया है।

भी मिलेंगे जो अपने जीवन में ही चार धाम की यात्रा पूरी कर चुके हों या जिनके किसी वृद्ध पूर्वज ने यह यात्रा की हो।

यों तो देश में अनेक नदियां पवित्र मानी गई हैं, किन्तु सात नदियों की गिनती भौगोलिक एकता की सूचक है। स्नान के समय यह श्लोक पढ़कर इन नदियों का आवाहन किया जाता है—

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु।

स्नान के घड़े भर जल में और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी, कावेरी और सिन्धु इन सात नदियों के पवित्र जलों में पारस्परिक एकता की भावना अत्यन्त श्लाघनीय है। बड़े सरल और सीधे शब्दों में यह मातृभूमि के अखंड स्वरूप का दैनिक पारायण है। इसी प्रकार सप्तमहापुरियों की कल्पना भी देश के व्यापक मानचित्र का संक्षिप्त सूत्र है। अयोध्या, मथुरा, माया (मायापुर-हरद्वार), काशी, कांचीपुरी, अवन्तिका (उज्जैन), द्वारका, ये सात पुरी मोक्ष देने वाली हैं। इसमें भी उत्तर दक्षिण दोनों भाग पवित्र कहे गए हैं। पुराणों के अनुसार चार तीर्थ माने जाते हैं—पूर्व में श्वेतगंगा, दक्षिण में धनुषतीर्थ (समुद्र के किनारे धनुष्कोटि), पश्चिम में गोमतीकुंड (द्वारका में गोमती नदी) और उत्तर में तप्तकुंड[१]। इस प्रकार दक्षिणी समुद्रतट से उत्तराखंड के बदरीनाथ तक और पश्चिमी समुद्र के गोमती तीर्थ या द्वारका तक देश का भौगोलिक रूप इस सूत्र में पिरोया गया है। पम्पासर[२], बिन्दुसर[३],

---

(१) बदरीनाथ में गरम जल के कुण्ड।

(२) तुंगभद्रा की एक सहायक नदी जो ऋष्यमूक पर्वत से निकलती है (बिलारी जिले के हम्पी स्थान के उत्तर में है)। इसी के समीप पम्पा सरोवर है।

(३) भुवनेश्वर (उड़ीसा) में कहा जाता है कि शिव ने अपने त्रिशूल से सरोवर का निर्माण करके दुर्गा की प्यास बुझाई थी, जब

नारायणसर[१], और मानसरोवर ये चार अत्यन्त पवित्र सरोवर क्रमशः दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और उत्तर में स्थित हैं। इसी प्रकार चार प्रधान-क्षेत्र कहे गए हैं—वराहक्षेत्र[२], कुरुक्षेत्र, हरिहरक्षेत्र[३], और मुक्तिक्षेत्र[४]।

तीर्थ-परिक्रमा

तीर्थ यात्रा के प्रसंग से भूमि की परिक्रमा की जाती है। उसके जो प्रसिद्ध स्थल हैं उन्हें तीर्थयात्री एक क्रम के अनुसार देखता हुआ जाता है। इस प्रकार की चारों दिशाओं की यात्रा या परिक्रमा का दूसरा नाम प्रदक्षिणा है क्योंकि इसमें यात्री घड़ी की सुई की तरह सदा अपने दाहिने हाथ की ओर घूमता है। महाभारत के एक अत्यन्त प्राचीन स्थल में इस प्रकार की तीर्थ परिक्रमाओं का वर्णन सुरक्षित रह गया है [५]।

वे भुवनेश्वर के कीर्ति और बास नामक राक्षसों का वध कर चुकी थीं।

(१) सिन्धु सागर संगम के समीप, कच्छ भुज के कोने में स्थित सघपत स्थान से दक्षिण पश्चिम १८ मील पर।

(२) काश्मीर में जेलहम के दाहिने किनारे पर बरामूला, यहां विष्णु ने वराह रूप में अवतार लिया था। यहां आदि वराह का एक प्राचीन मंदिर भी है।

(३) गंडक और गंगा के संगम पर स्थित सोनपुर जो हरिहर क्षेत्र नाम से प्रसिद्ध है। यहां कार्तिकी पूर्णिमा को उत्तरी भारत का सबसे बड़ा मेला लगता है।

(४) नेपाल की सीमा पर गण्डक के उद्गम से कुछ ही दूर काली गण्डकी नदी के किनारे नारायण विष्णु का प्रसिद्ध मन्दिर।

(५) आरण्यक पर्व के अन्तर्गत इस प्रकरण का नाम तीर्थ-यात्रा पर्व है। पूना के संशोधित संस्करण में अध्याय ८० से अध्याय १५३

कथा का प्रसंग इस प्रकार है—युधिष्ठिर भाइयों के साथ काम्यकवन में ठहरे हुए हैं। अर्जुन दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिये तप करने चले जाते हैं। उनके विरह में सब भाई दुखी हैं। ऐसे समय नारद युधिष्ठिर के पास आते हैं और उनके मन की ग्लानि को हटाने के लिये पुलस्त्य और भीष्म के संवाद रूप में भारतवर्ष के तीर्थों का वर्णन करते हैं (अ० ८०—अ० ८३)। इसके तुरन्त बाद पांडवों के पुरोहित धौम्य आते हैं और पांडवों को दुःखी और अर्जुन के लिये उत्सुक देख कर उन्हें दिलासा देने के लिये वे भी एक तीर्थ परिक्रमा का वर्णन करते हैं (अ० ८५—अ० ८८) इस प्रकार ये दो वर्णन हमारे सामने हैं। इनमें से धौम्य की तीर्थयात्रा के चार अध्यायों में केवल १०२ श्लोक हैं और पुलस्त्य के वर्णन में ५९८ श्लोक। इनमें धौम्य की यात्रा कहीं अधिक प्राचीन, संक्षिप्त और क्रमबद्ध है। धौम्य तीर्थ यात्रा पूरब में गया और महेन्द्र, पश्चिम में पुष्कर और द्वारका तक जाती है। पुलस्त्य की यात्रा का क्षेत्र पूरब में कामरूप और पश्चिम में सिन्धु सागर संगम तक है। दक्षिण की ओर दोनों का विस्तार कन्याकुमारी तक है।

इन दोनों तीर्थ यात्राओं को सुनने के बाद युधिष्ठिर लोमश ऋषि को पथप्रदर्शक की तरह साथ लेकर तीर्थयात्रा के लिये निकलते हैं। इसका वर्णन अनेक अवान्तर कथाओं के साथ लगभग ६० अध्यायों में पाया जाता है।

देश की चारों दिशाओं का यथासम्भव दर्शन इन तीनों के ही अन्तर्गत आ जाता है और इनको पढ़ने से मन पर यह छाप पड़ती है कि बदरी केदार एवं कैलाश मानसरोवर से लेकर दक्षिण दिशा में कन्याकुमारी तक

तक कुल ७४ अध्याय इस उपपर्व में हैं जिनके निम्नलिखित तीन विभाग हैं (१) पुलस्त्य तीर्थ यात्रा (अध्याय ८०–अ० ८३), (२) धौम्य तीर्थ-यात्रा (अ० ८५–अ० ८८) (३) लोमश तीर्थ-यात्रा (अ० ८९-अ० १५३)।

की भूमि एक भौगोलिक एवं धार्मिक संस्थान के अन्तर्गत आ चुकी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के एक राष्ट्रशासन का जो उल्लेख है उसका आधार इन तीर्थ यात्राओं में वर्णित भौगोलिक स्थिति ही हो सकती है।

इस प्रसंग में एक बात उल्लेखनीय है। यात्रा पर चलने से पहले लोमश ने युधिष्ठिर को सलाह दी कि यात्रा पर बिना बोझ के हल्के होकर चलना चाहिए। जो हल्का है वह अपने मन की इच्छानुसार यात्रा कर सकता है—

गमने कृतबुद्धि तं पांडवं लोमशो ब्रवीत्।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यति॥
आरण्यक९०–१८ :

लोमश ने कहा मैं स्वयं दो बार तीर्थों को देख चुका हूं, आपके साथ तीसरी बार फिर देखूंगा। पुण्यात्मा मनु आदि राजर्षि भी पहले इस तीर्थयात्रा पर जा चुके हैं[१]। तीर्थयात्रा मनुष्य के मान का डर हटा देती है। सच बात तो यही है कि यात्रा का यही बड़ा फल है। अपरिचित स्थानों और वहां के निवासियों के प्रति मन में जो शंका रहती है वह देश दर्शन से मिट जाती है और अज्ञात भय के स्थान में प्रीति का संचार हो जाता है। तीर्थ यात्रा की परम्परा को मनु आदि राजर्षियों तक ले जाना इस संस्था के महत्व और इसके प्रति सब की पूज्य बुद्धि को सूचित करता है।

धौम्य तीर्थ-यात्रा

काम्यक वन से उठकर पूरब की दिशा में पहले नैमिषारण्य है जहां पवित्र गोमती नदी है। इसी दिशा में गंगा नदी, पंचाल, गया, फल्गु नदी,

---

(१) इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा॥
(आरण्यक ९०।१०)

और कौशिकी नदी हैं। इसी ओर कान्यकुब्ज और प्रयाग में गंगा, यमुना का संगम है। इसी ओर पूरब में महेन्द्र पर्वत है। कालंजर पर्वत पर शिव का परम स्थान है। ज्ञात होता है कि कालंजर से उड़ीसा के महेन्द्र पर्वत तक का रास्ता उस समय खुल गया था। आजकल का रेलमार्ग जो मैहर, कटनी रतनपुर, विलासपुर, रायपुर होता हुआ गंजम से मिल जाता है लगभग वही है। दक्षिण कोशल का यह प्रदेश उस समय आर्य उपनिवेश के अन्तर्गत आ चुका था।

दक्षिण दिशा के तीर्थों में निम्नलिखित नाम हैं—गोदावरी, वेणा (वर्तमान वेन गंगा) भीभरथी, पयोष्णी, प्रवेणी (वर्तमान पेनगंगा), शूर्पारक। ये नाम दो पुरानों पथों की ओर संकेत करते हैं। एक तो दक्षिण कोशल से गोदावरी तक का मार्ग जो वेण गंगा के पूरब रहा होगा, और दूसरा गोदावरी से पश्चिम की ओर विदर्भ में होता हुआ कोंकण के शूर्पारक तक का मार्ग।

इसके बाद धुर दक्षिण के तीर्थों में पांड्य देश में अगस्त्य तीर्थ का उल्लख है जो समुद्र तट का अगस्त्येश्वरं ज्ञात होता है। उसी के समीप कुमारी और ताम्रपर्णी नदी थी। कन्याकुमारी से उत्तर घूम कर पश्चिमी समुद्र के किनारे उत्तरी कनाड़ा प्रदेश में गंगवती नदी और समुद्र के संगम पर गोकर्ण तीर्थ है। यहाँ अगस्त के शिष्य तृणसोमाग्नि का आश्रम था। इसके बाद इसी दिशा के सिलसिले में सुराष्ट्र के तीर्थों का उल्लेख है जिनमें प्रभास, पिंडारक, उज्जयन्त पर्वत, और द्वारवती मुख्य हैं। ज्ञात होता है कि पश्चिम और दक्षिण के लम्बे समुद्र तट का मार्ग उस प्राचीनसमय से ही काम में आने लगा था जबकि भीतर के घने जंगलों में आर्यों का प्रवेश नहीं हुआ था। द्वारका, प्रभास, शूर्पारक, गोकर्ण और कन्याकुमारी ये पाँचों तटवर्ती स्थान समुद्री यातायात के लम्बे मार्ग की सूचना देते हैं।

पश्चिम की दिशा में अवन्ति जनपद, पश्चिमवाहिनी नर्मदा, पारा नदी और पुष्कर ये नाम निश्चित रूप से पहचाने जाते हैं। पुष्कर इस

दिशा की अन्तिम हद थी। इस यात्रा के उत्तर की ओर सरस्वती और यमुना के उद्गम प्रदेश, प्लक्षावतरण तीर्थ, गंगाद्वार, कनखल, भृगुतुंग, विशाला बदरी ये तीर्थ मुख्य हैं।

यात्रा के अन्त में आध्यात्मिक धरातल से कहा गया है 'वहीं सच्चा तीर्थ है और वहीं सब धाम है जहाँ नारायण सनातन देव विद्यमान हैं। वहीं तपोवन, देवर्षि और सिद्धों के पवित्र तीर्थ हैं जहाँ महान् योगीश्वर आदि देव मधुसूदन का निवास है।'

पुलस्त्य तीथ-यात्रा

इस प्रकरण के आरम्भ में ही तीर्थ के आध्यात्मिक दृष्टिकोण की व्याख्या की गई है। 'जिसके हाथ पैर और मन सुसंयत हैं, जिसमें विद्या, तप और कीर्ति है, वह तीर्थ का फल पा लेता है। जो दान नहीं लेता, आत्मसन्तोषी, पवित्र और नियमों का पालन करनेवाला और अहंकार से रहित है वह तीर्थ का फल पाता है। जो दम्भरहित, त्यागी, जितेन्द्रिय, स्वल्पाहारी और सब दोषों से मुक्त है वह तीर्थ का फल पाता है, क्रोध रहित, सत्यशील, व्रतों में दृढ़ और सब प्राणियों को अपने समान जानने वाला मनुष्य तीर्थ का फल पाता है।' (आरण्यक ८०।३०–३३)

पुलस्त्य तीर्थ यात्रा पर्व के अन्तर्गत भारतीय भूगोल का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है, कितने ही नये तीर्थों के नाम उसमें आते हैं। वे स्थान जिनकी पहचान निश्चित है ये हैं—पुष्कर, पुष्करारण्य (पुष्करणा) जम्बू (अर्बुद पर्वत), महाकाल, नर्मदा, दक्षिण सिन्धु, चर्मण्वती, अर्बुद, प्रभास, सरस्वती सागर संगम, द्वारवती (द्वारका), पिंडारक, एवं सिन्धु और समुद्र का संगम। इसके बाद उत्तर दिशा में निम्नलिखित स्थानों के नाम हैं पंचनद, देविका (देगनदी), विनशन (मरुपृष्ठ पर सरस्वती के अदर्शन का स्थान), कुरुक्षेत्र, पुंडरीक (वर्तमान पूंडरी) सर्पदेवी (सफीदों), आपगा नदी, कपिष्ठल (कैथल), दृषद्वती, व्यासस्थली, विष्णुपद, सप्त सारस्वत तीर्थ, पृथूदक (पिहोवा) सन्निहिती ('कुरुक्षेत्र का सन्निहित ताल)।

इसके अनन्तर हिमालय के कुछ पुराने तीर्थों के नाम हैं, जैसे गंगाद्वार, कनखल, गंगा (धौलीगंगा) और सरस्वती (विष्णुगंगा) का संगम (विष्णु प्रयाग), रुद्रावर्त (रुद्रप्रयाग), भद्रकर्णेश्वर (कर्ण प्रयाग), यामुन पर्वत (बंदर पूंछ), सिन्धु का उद्‌गम, ऋषिकुल्या (ऋषिगंगा), भृगुतुंग (तुंगनाथ)।

पूर्व दिशा के तीर्थों में कई नाम ऐतिहासिक महत्त्व के हैं—गोमती गंगा का संगम, योनिद्वार (गया का ब्रह्मयोनितीर्थ), गया, फल्गु, राजगृह, तपोद (राजगृह में गरम पानी के चश्मे), मणिनाग (राजगृह में मणियार नाग का मठ), जनकपुर, गंडकी, विशाला नदी (सम्भवतः वैशाली), नारायण तीर्थ (गंडकी नदी के किनारे जहां से शालिग्राम की बटिया आती हैं), कौशिकी (कोसी), चम्पकारण्य (चम्पारन), गौरीशिखर (गौरीशंकर चोटी), ताम्रा और अरुणा नदियों का संगम, कौशिकी (सुनकोशी और अरुणा का संगम), कोकामुख तीर्थ (ताम्रा, अरुणा और कौशिकी के संगम के समीप), चम्पा (भागलपुर), संवेद्या तीर्थ (सदिया), लोहित्य (असम की लोहित नदी), करतोया (बोगरा की प्रसिद्ध नदी जो गंगा की धारा पद्‌मा में मिलती है), और अन्त में गंगा और सागर का संगम जिसे आज भी गंगासागर कहते हैं।

इन स्थानों के सिलसिले में दो भौगोलिक मार्ग मुख्यतः दृष्टि में आते हैं, एक मार्ग गंगा के उत्तर कोसल देश से लौहित्य तक चला गया था। यह पुराना रास्ता था। कालिदास ने रघुदिग्विजय में भी इसी मार्ग का आश्रय लिया है। दूसरा मार्ग गंगा के दक्षिण मगध को पूरब में गंगासागर संगम के साथ, पश्चिम में मध्य देश के साथ और दक्षिण पश्चिम में दक्षिण कोसल के साथ मिलाता था।

इस तीसरे मार्ग का अनुसरण करते हुए इस यात्रा में निम्नलिखित स्थानों का उल्लेख है :—

मगध से दक्षिण पूर्व की ओर वैतरणी नदी, और पश्चिम दक्षिण की ओर शोण और नर्मदा का उद्‌गम स्थान है। गया से पश्चिम यह

मार्ग शोण के किनारे-किनारे चलता था। फिर जहाँ शोण और उसकी शाखा नदी जोहिला (प्राचीन ज्योतिरथा) मिलती हैं वहाँ से दक्षिण घूम कर नर्मदा के दक्षिण चेदि जनपद को पार करके एक मार्ग पश्चिम में विदर्भ तक जाता था जिसकी राजधानी वंशगुल्म (आधुनिक बासिम) का इस प्रकरण में उल्लेख हुआ है। और दूसरा रास्ता शोण के उद्गम के पास से बिलासपुर होता हुआ दक्षिण कोशल में घुसता था। कोशल का बड़ा केन्द्र उस काल में ऋषभ तीर्थ कहा गया है (ऋषभंतीर्थ मासाद्य कोशलायां नराधिप, आर० ८३।१०)। ऋषभ तीर्थ बिलासपुर और रायगढ़ के बीच वर्तमान शक्ति रियासत के गुंजीगाँव का उसभा तीर्थ है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तीर्थयात्रा के मार्ग एवं भूसन्निवेश और व्यापारिक यातायात के मार्ग बहुत करके एक ही थे। तीर्थों के क्रमबद्ध अध्ययन और पहचान की कुंजियाँ भौगोलिक मार्गों में छिपी हैं। ज्ञात होता है कि ग्रन्थ लेखक एक स्थान में खड़े होकर मार्गों के चौमुखी फटाव को देख रहा है, उसके वर्णन के सब सूत्र चारों दिशाओं से आकर केन्द्रस्थान में मिल रहे हैं। मगध से कलिंग और मगध से मेकल होकर विदर्भ और कोसल के तो दो मुँही रास्तों का ऐसा स्पष्ट उल्लेख जैसा यहाँ है अन्यत्र नहीं पाया जाता।

इस यात्रा प्रकरण के तीन तार अभी बच जाते हैं १. दक्षिणी अंचल के तीर्थ २. दक्खिन के पठार के तीर्थ, और ३. मध्यदेश के अन्तर्गत तीर्थ। संक्षेप में ये तीनों इस प्रकार थे। उड़ीसा की वैतरणी नदी से दक्षिण घूम कर एक रास्ता समुद्र के किनारे महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा का आधुनिक महेन्द्रगिरि) और श्री पर्वत (कृष्णानदी के समीप श्रीशैल, वर्तमान नागार्जुनी कोंडा) के पास होता हुआ पांड्य देश तक चला गया था। वहाँ कावेरी और कन्या कुमारी को मिलाता हुआ यह सामुद्रिक मार्ग उत्तरी कनाड़ा के उसी गोकर्ण तीर्थ में जा मिलता था जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। दक्षिणी पठार के अन्तर्गत तीर्थों में हम पुनः उसी प्राचीन भूगोल को देखते हैं जिसमें गोदावरी से पश्चिम की ओर

जानेवाला मार्ग वरदा और वेणा (वेन गंगा) के काँठो में होकर विदर्भ से सुपारा जा निकलता था। तीर्थों का तीसरा गुच्छा मध्यदेश के दक्षिणी अंचल में कालंजर चित्रकूट मन्दाकिनी से शुरू होकर शृंगवेरपुर होता हुआ प्रयाग और प्रतिष्ठान (झूसी) को मिलाता था और पुन: वही प्रयाग से काशी की ओर दशाश्वमेध तक चला जाता था। यही संक्षेप में पुलस्त्य का कहा हुआ तीर्थयात्रा प्रकरण है। इसमें वंशगुल्म, ऋषभतीर्थ, श्रीपर्वत और दशाश्वमेध नामों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह प्रकरण गुप्तकाल के आसपास की भौगोलिक संज्ञाओं को लेकर रचा गया हो और इस प्रसंग में रख दिया गया हो, जब कि पुराना प्रकरण भी धौम्य यात्रा के रूप में अपनी जगह पड़ा रह गया[1]।

देवी पीठों के नामों के रूप में मातृभूमि की अखंड कल्पना के साथ-साथ भारत के धार्मिक इतिहास की सामग्री भी अन्तर्निहित है। पेशावर जिले की भीमादेवी, कांगड़ा नगरकोट (प्राचीन जालन्धर क्षेत्र) की ज्वाला-देवी, बलूचिस्तान की हिंगुलादेवी, विन्ध्याचल की विन्ध्यवासिनी, कामरूप की कामाक्षा देवी इत्यादि देवियाँ प्राचीन मातृदेवी या मही माता की सर्वत्र व्याप्त पूजा परम्परा पर आश्रित थीं जिन्हें एक नए विधान के अन्तर्गत समस्त देश में पूजनीय मान लिया गया।

देवी पीठों की संख्या के विषय में कई मत हैं। चतुष्पीठ तन्त्र के अनुसार ये पीठ चार थे। हेवज्र तन्त्र[2] (आठवीं शती) के अनुसार चार पीठों के नाम ये थे—जालन्धर, ओडियान, पूर्णगिरि और कामरूप। कालिका पुराण का कथन है कि पश्चिम के ओड्रपीठ की देवी का नाम कात्यायनी,

---

(१) पुलस्त्य यात्रा के अन्त की रोचक फलश्रुति भी उसकी मिलावट सूचित करती है। धौम्य तीर्थ यात्रा के अन्त में इस प्रकार की फलश्रुति नहीं है।

(२) साधनमाला नामक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार जालन्धर के स्थान पर श्रीहट्ट है, शेष नाम वे ही हैं।

उत्तर के जालशैल पीठ की चंडी, दक्षिण के पूर्णशैल की पूर्णेश्वरी और पूर्व के कामरूप की कामेश्वरी है। इसमें जालशैल की पहिचान जालन्धर से है। त्रिगर्त (कुल्लू कांगड़ा) प्रदेश अभी तक जालन्धरायण कहलाता है। यहीं जालन्धर पीठ है जिसके समीप नगर कोट में प्रसिद्ध ज्वालामुखी देवी है जो समस्त कुरुक्षेत्र जनपद एवं पंजाब और उत्तरप्रदेश में दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। पूर्णशैल या पूर्णगिरि की पहिचान दक्षिण की तुलजा भवानी[1] से की जाती है। कामरूप असम देश का प्रसिद्ध तीर्थ है। ओडियान या उड्डियान स्वात नदी की घाटी का पुराना नाम था जो गन्धार का ही एक भाग था। इसे कहीं-कहीं उद्यान भी कहा गया है जो महाभारत (वन०८३।९३–९५) के उद्यन्त का ही दूसरा रूप है। यहाँ योनिद्वार नामक तीर्थ में भीमादेवी का अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान था। चीनी यात्री य्वूआन् च्युआङ् ने लिखा है कि पेशावर जिले में शाहबाज गढ़ी के पास भीमादेवी का जो महेश्वर की पत्नी मानी जाती है एक प्रसिद्ध स्थान था जहाँ नीले पत्थर की बड़ी मूर्ति थी। स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार यह स्वयंभूमूर्ति थी जिसके दर्शन के लिये दूर-दूर से यात्री आते थे और सात दिन का उपवास रखते थे। यहीं पर्वत के नीचे महेश्वर शिव का बड़ा मन्दिर था जो पाशुपतों का बड़ा केन्द्र था (वाटर्स सियुकी १।२२१)। इससे ज्ञात होता है कि गन्धार देश में शिव पूजा और देवीपूजा का बहुत बड़ा केन्द्र था जो प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था। भीमा और कामाख्या ये दो पीठ देश के दो छोरों पर स्थित हैं। आईन अकबरी में भी चार देवी पीठों का उल्लेख है जिनमें भीमादेवी के स्थान पर कश्मीर का शारदा पीठ[2] गिनाया गया है और

---

(१) निजाम राज्य में धारशिव (वर्तमान उस्मानाबाद) के दक्षिण तुलजापुर स्थान है, उसके पास पहाड़ की तलहटी में तुलजादेवी का मन्दिर है, यह शोलापुर से २८ मील उत्तर पूर्व में है।

(२) यह स्थान आजकल शारदी कहलाता है जो कृष्णगंगा

पूर्णा के लिये तुलजाभवानी नाम दिया गया है। तुलजापुर की देवी इतनी प्रसिद्ध थी कि शिवा जी ने प्रतापगढ़ दुर्ग बनवाते समय अपनी कुलदेवी तुलजाभवानी की भी वहाँ स्थापना की थी।

कालिकापुराण (अ० १८।४२-५१) में ही अन्यत्र देवी के सात पीठों का उल्लेख है। जिसमें ये तीन नाम नये हैं देवीकूट, (देवीकोट्ट, आधुनिक बानगढ़ जिला दीनाजपुर), दिक्कर वासिनी (सदिया के समीप दिकरंग स्थान), ललित कान्ता (गोहाटी के समीप सन्ध्या ललिता कान्ता की धाराएँ)। रुद्रयामल तन्त्र (लगभग नवीं शती) में दस देवी पीठों का उल्लेख है कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि, ओड्डियान, वाराणसी, ज्वलन्ती (सम्भवतः ज्वालामुखी), मायावती, मधुपुरी (मथुरा), अयोध्या और काँची। कुलार्णव-तन्त्र में पीठों की संख्या १८ है, जिसमें ये नाम नए हैं हिंगुला, कोटिमुद्रा, अन्तर्वेदी, प्रयाग, मिथिला, मगध, मेकला, अंग, बंग, कलिंग, सिंहल, स्त्रीराज्य, राढ़ा और गौड़। इस प्रकार इन नामों की गिनती अनियत थी। आवागमन के विस्तार एवं धार्मिक कारणों से नये नये तीर्थ बनते और सूची में मिला लिए जाते थे। कुब्जिका तन्त्र (पटल ७) में ४२ सिद्ध पीठ कहे हैं जिनमें से अनेक नाम देश भर में छिटके हुए थे और भौगोलिक एकता की साक्षी देते हैं—हिंगुला, जालन्धर, नेपाल, सिंहनाद या सिंहल, मणिपुर, बदरी, प्रयाग, त्रिवेणी, बंगाल की मुक्तवेणी, गंगासागर संगम, उड्डियान, माहिष्मती, त्रिपुरा, विन्ध्यगिरि, वैद्यनाथ, कामरूप आदि। ज्ञानार्णवतन्त्र (पटल १४) में देवीपीठों की संख्या ५० हो गई जिसमें से कुछ विशिष्ट नाम ये हैं—कश्मीर, पौंड्रवर्धन (बंगाल में बोगरा जिले का महास्थान), एकाम्र (भुवनेश्वर, उड़ीसा), कैलास, अर्बुद (आबू), भृगुतुंग, केदार, ओंकार, (मान्धाता), गोकर्ण (पश्चिमी

(वितस्ता की सहायक) और कंकतोरी (सरस्वती), के संगम पर है। इसी से कश्मीर शारदा देश कहलाता है।

(जयचन्द्र विद्यालंकार भारतभूमि, पृ० १४१)।

समुद्र के तट पर उत्तरी कनाड़ा), विरजा (वैतरणी के तट पर जाजपुर, उड़ीसा), राजगृह, एलापुर (इलोरा), मलय, श्रीशैल, महेन्द्र और उड्डियान। मत्स्य-पुराण के एक प्रकरण में[1] (अ० १३) पीठों की संख्या १०८ तक पहुंच गई है। प्रत्येक पीठ में वहाँ की अधिष्ठातृ देवी का नाम भी बताया गया है[2]। देवी पुराण की एक अन्य सूची में चिदम्बर की मीनाक्षी, शाकम्भरी, कांची की अन्नपूर्णा, चीनदेश की नील सरस्वती एवं अन्य कितने ही नए नामों का उल्लेख है।

सूचियों में नामों का भेद उलझन का कारण नहीं, उससे तो धार्मिक क्षेत्र की उन्मुक्त बुद्धि, लचकीली उदारता का ही परिचय मिलता है। तीर्थ और पुण्य क्षेत्रों के निर्माण में देवी के पीठों की भाँति अन्य धर्मों के पवित्र स्थानों की संख्या भी ऐतिहासिक विकास का परिणाम थी। इन सूचियों से यह तथ्य तो स्पष्ट है कि हिंगुलाज से कामाक्षा और शारदा से सिंहल तक का क्षेत्र मातृदेवी की पूजा के द्वारा गहरी धार्मिक एकता का अनुभव करता था। प्रायः प्रत्येक परिवार एक-न-एक देवी के साथ अपना सम्बन्ध मानता है। उस कुटुम्ब के लोग जहाँ भी हों उस पुराने सम्बन्ध को बनाए रखते हैं और बच्चों के मुंडनादि संस्कार के लिये वहाँ की यात्रा करते या ज्ञान के लिये जाते हैं। परिवार या जातियाँ दूर देशों में फैलती हुई भी पहली धुरी या कीली के साथ अपने सम्बन्ध को जोड़े रहती है। धार्मिक दृष्टि से देवियाँ पृथ्वी की रूप हैं। जन ने प्राथमिक अवस्था में भूमि के साथ जिस

---

(१) यह सूची अन्यत्र भी मिलती है, देवी भागवत ७।३०।५५-८३, पद्मपुराण सृष्टिखंड १७।१८४–२११, स्कन्दपुराण अवन्ती खंड के अन्तर्गत रेखाखंड ९८।६४-९२

(२) देवी पीठ सम्बन्धी इस सामग्री के लिये मैं श्री दिनेशचन्द्र सरकार का ऋणी हूँ—दी शाक्त पीठ, बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की मुख-पत्रिका (भाग १४, १९४८:), पृ० १ से १०८ तक।

सम्बन्ध का अनुभव किया उसी का विशिष्ट रूप एक-एक प्रदेश की मातृपूजा थी।

मातृभूमि को इस प्रकार देवत्व प्रदान करने में बौद्ध, जैन आदि धर्मों ने भी पूरा-पूरा भाग लिया है; उनके तीर्थस्थान भी चारों दिशाओं में फैले हुए हैं। जैनधर्म के अनुसार तीर्थ दो प्रकार के हैं; १—सिद्ध क्षेत्र जहाँ से तीर्थंकर या दूसरे महात्मा सिद्धपद या निर्वाण को प्राप्त हुए, २—अतिशय क्षेत्र जो किसी मूर्ति या स्थानीय देवता के चमत्कार के कारण तीर्थस्थान बन गए। श्वेताम्बर लोग ऐसा कोई भेद नहीं मानते। जैन तीर्थों में कुछ प्रसिद्ध नाम इस प्रकार हैं—अष्टापद (कैलास), ऊर्जयन्त (काठियावाड़ में गिरनार), शत्रुंजय (पालिताना, काठियावाड़), पावापुरी, तुंगीगिरि, राजगृह के समीप पंच पर्वतों में ऋषिगिरि, जिनकांची, श्रवण बेलगोल[1], बदरी नगरी (मूडबिद्री)। जिनप्रभ सूरि विरचित विविध कल्पतीर्थ के अनुसार प्रसिद्ध तीर्थ निम्नलिखित स्थानों में थे—उत्तरप्रदेश में अहिछत्रा, हस्तिनापुर, मथुरा, वाराणसी, काम्पिल्य, अयोध्या, श्रावस्ती और कौशाम्बी; बिहार में राजगृह का वैभारगिरि, पावा, पाटलिपुत्र, चम्पा, मिथिला; राजपूताना-मालवा में अर्बुदाचल (आबू); गुजरात में शत्रुंजय उज्जयन्त (रैवत गिरि, गिरनार), अणहिलपुर (अनिलवाडा, पाटन); दक्षिण में प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठण, जि० औरंगाबाद), नासिक।

इन नामों से ज्ञात होता है कि सात में से पाँच महापुरियाँ जैनों के भी तीर्थस्थान थे। मथुरा तो लगभग १२०० वर्षों तक (विक्रमपूर्व दूसरी शती से विक्रम की दसवीं शती तक) जैनधर्म का बहुत बड़ा धार्मिक एवं कला केन्द्र था। तीर्थयात्रा के लिये जैनों का धर्मप्रेम विशेष

---

(१) यह स्थान श्रीरंगपट्टण से १२ कोस पर है। यहां गोम्मट स्वामी की ६० हाथ की कायोत्सर्गवाली मूर्ति है। गोम्मटस्वामी बाहुबली का लोकप्रसिद्ध नाम है।

समारोह के रूप में प्रकट होता है। प्राचीन समय में धनाढ्य लोग किसी आचार्य की प्रेरणा से संघ-यात्राएँ निकालते थे। यात्रा की घोषणा हो जाती थी और जो व्यक्ति चाहता उसमें सम्मिलित हो सकता था। इस प्रकार की संघ-यात्राएं बड़ी धूमधाम से उठतीं और कितने ही तीर्थस्थानों का भ्रमण करके लौटती थीं। इस प्रकार यात्रा उठानेवाले महानुभाव संघपति (संघइ,) सिंघी कहलाते थे।

अवश्य ही इन स्थानों में कला और स्थापत्य की भी बहुत अधिक सामग्री दर्शकों को मिलती थी। आबू, शत्रुंजय पालिताना और गिरनार के जैन मन्दिर भारतीय कला के भी तीर्थ हैं। बिहार, बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यभारत, मालवा, कर्णाटक आदि में शायद ही कोई ऐसा प्रसिद्ध स्थान हो जहाँ किसी न किसी रूप म जैनधर्म को माननेवालों ने अपना सम्पर्क न स्थापित किया हो। इसका एक अच्छा उदाहरण इलोरा के गुफामन्दिर हैं जहाँ शैव और बौद्ध गुफाओं के अतिरिक्त जैनों ने भी अपने धर्म की गुफाएँ बनाईं। उड़ीसा की उदयगिरि और खंडगिरि पहाड़ियों की गुफाओं में जैनों ने अपने अनेक विहार बनवाए जिनका समय विक्रम पूर्व दूसरी और पहली शती है। यहाँ प्रतापी सम्राट् खारवेल के समय जैन धर्म का प्रबल उत्थान हुआ था, जिसका प्रमाण हाथी गुम्फा, रानी गुम्फा और अनन्त-गुम्फा आदि लगभग तीस गुफाओं के रूप में अभी तक सुरक्षित है।

बौद्धों ने भी तीर्थयात्रा को बड़े भक्तिभाव से अपनाया। सम्राट् अशोक ने स्वयं महाराज बुद्ध के जन्मस्थान की यात्रा की थी। सब बौद्ध भिक्षु और गृहस्थ बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चार महास्थानों की यात्रा करते थे, जन्मस्थान लुम्बिनी, बोधिस्थान बुद्ध गया, धर्मचक्र प्रर्वतन का स्थान सारनाथ और निर्वाण का स्थान कुशीनगर। पवित्र स्थानों की यह सूची समय पाकर बहुत बढ़ी। कहा जाता है कि अशोक ने भगवान बुद्ध की स्मृति में ८४ हजार स्तूपों की स्थापना की थी।

ये स्तूप गन्धार से जहाँ तक अशोक का राज्य था प्रायः सारे देश में फैले हुए थे। वस्तुतः बौद्धों की पुण्य भूमि लगभग भारतवर्ष की प्राचीन सीमाओं के समकक्ष ही हो गई थी। ऐतिहासिकों के अनुसार भगवान् बुद्ध पश्चिम में मथुरा से आगे नहीं गए थे, किन्तु धार्मिक अनुश्रुति के अनुसार गन्धार में भी बुद्ध की यात्रा हुई थी। कहा जाता है कि पश्चिमी गन्धार की राजधानी पुष्कलावती (वर्तमान चारसद्दा) के समीप बुद्ध ने हारीती नाम की एक राक्षसी के मन में करुणा का संचार करके उसे अपने अनुगत बना लिया था। पीछे वही बच्चों की अधिष्ठात्री देवी बन गई। गन्धार की पूर्वी राजधानी तक्षशिला और उसका उत्तरी भाग स्वात नदी की घाटी बौद्धस्तूपों और मन्दिरों से पट गए। काबुल के पश्चिम में बामियाँ घाटी में बुद्ध की लगभग १५० फुट ऊँची मूर्ति पहाड़ में काट कर बनाई गई। गुप्तकाल और उसके आसपास उत्तर पश्चिमी भारत का यह प्रदेश बौद्ध धर्म का क्षेत्र बन चुका था। मध्य एशिया की ओर भारतीय संकृति के प्रसार का महत्त्वपूर्ण मार्ग गन्धार कपिश बाल्हीक के बौद्ध केन्द्र ही थे।

शेष भारत में भी उत्तर से धुर दक्षिण तक बौद्धों के अनेक पवित्र केन्द्र थे जहाँ रह कर बौद्ध भिक्षुओं ने धर्म प्रचार किया और कई प्रकार की सुन्दर कला सामग्री का निर्माण किया। भाजा, कार्ला, कन्हेरी, बाघ, अजन्ता, इलोरा की चैत्य गुफाएँ और बिहार, सारनाथ, साँची, भरहुत, मथुरा, अमरावती, नागार्जुनी कोंडा के स्तूप और तोरिण वेदिकाएं बौद्धों के दूर-दूर तक फैले हुए तीर्थस्थानों का परिचय देते हैं, जिनके मूल में समान धार्मिक भावना और कला प्रवृत्ति काम कर रही थी।

विष्णुपीठों और शक्तिपीठों की तरह पिछले बौद्धों ने यक्षपीठों की कल्पना की। यक्षों की पूजा स्थान-स्थान पर पुराने समय से चली आती थी। बौद्ध, शैव और जैन धर्म के साथ यक्षपूजा घुलमिल गई। बौद्ध साहित्य में यक्षों की लम्बी सूचियाँ पाई जाती हैं। देश की भौगोलिक इकाई की दृष्टि से महामायूरी

ग्रन्थ[1] की यक्षसूची शिक्षाप्रद है। कहते हैं कि स्वाति नाम के भिक्षु को साँप ने डस लिया था। उसके प्राण बचाने के लिये आनन्द ने बुद्ध से सहायता की याचना की और बुद्ध ने महामायूरी मन्त्र का उपदेश किया। इसी सिलसिले में बहुत से देवी देवताओं और छुटभैये यक्षों की गुहार की गई। अवश्य ही यह भौगोलिक सामग्री कुषाण काल के आसपास एकत्र की गई होगी। निम्नलिखित सूची में उन स्थानों के नाम दिये गए हैं जिनकी पहचान निश्चित है। कोष्ठक में उन यक्षों के नाम भी हैं जो वहाँ के देवता थे।

पाटलिपुत्र (ऋकुच्छन्द), स्थूना (गंडकी के दक्षिण तट पर मल्लजनपद का ग्राम, अपराजित), राजगृह (वज्रपाणि), कपिलवस्तु (काल उपकालक), श्रावस्ती (बृहस्पति), विराट (जयपुर में वैराट, महेश्वर) साकेत (सागर) वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर, वज्रायुध), वाराणसी (महाकाल), चम्पा (सुदर्शन), द्वारका (विष्णु), ताम्रपर्णी (विभीषण), उरगा (पांड्य देश की राजधानी उरगपुर, मर्दन), बहुधान्यक (रोहितक, कपिल), उज्जयिनी (वसुत्रात), अवन्ति (वसुभूति), भरुकच्छ (भरुक), आनन्दपुर (वर्तमान बड़नगर, नन्द), अग्रोदक (अगरोहा, माल्यधर), सुवास्तु (स्वात, शुक्ल-दंष्ट्र), गिरिनगर (गिरनार, काठियावाड़, महागिरि), विदिशा (वासव) रोहितक (कार्तिकेय), वैणवातट (वेणानदी, शतबाहु), कलिंग (बृहद्रथ) स्रुघ्न (आधुनिक सुघ, थानेश्वर के उत्तर में, दुर्योधन), शाकल (स्यालकोट

---

(१) चौथी और आठवीं शताब्दी के बीच में पाँच बार महामापूरी ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। श्रीमित्र (३१७ से ३२२ ई०), कुमारजीव (४०२–४१२ ई०): संघवर्मन (५१६ ई०) और इत्सिग (७०५ ई०) और अमोघवज्र (७४१–७१) जैसे विद्वानों ने इसमें हाथ बंटाया। बाणभट्ट ने भी हर्षचरित्र में विद्याओं की रानी महामायूरी का उल्लेख किया। शैलेन्द्रबोधि, ज्ञानसिद्धि और शाक्यप्रभ का किया हुआ इसका तिब्बती अनुवाद कंजुर संग्रह में है।

सर्वभद्र), वसाति (सीबी उत्तरी बिलोचिस्तान, वसुभद्र), वर्णु (बन्नू, कपिल), गान्धार (प्रमर्दन), तक्षशिला (प्रभंजन), रौरुक (रोड़ी, प्रभंकर) लम्पाक (लमगान, अफगानिस्तान, कलहप्रिय), मथुरा (गर्दभक), पांड्य मथुरा (दक्षिण मदुरा, विजय, वैजयन्त), मलय (पूर्णक), केरल (किन्नर), पौंड्र (उत्तरी बंगाल, मेघमाली), प्रतिष्ठान (पैठण, खंडक) पीतंगल्य (पीतलखोरा, खानदेश में चालीस गाँव से १८ मील पश्चिम, संकारी), नासिक्य (सुन्दर), करहाटक, (करहाड़ सितारा, नन्दिक और उसका पुत्र नंदी), कोशली (दक्षिण कोशल, महाभुज), वनवासी (बनवासी, उत्तरकनाडा, पालक), त्रिपुरी (चेदी की राजधानी तेवर, मकरन्द), उदुम्बर (होशियारपुर, पठाणकोट, अंडभ), कौशाम्बी (अनाभोग), अहिच्छत्र (रतिक), काम्पिल्य (कपिल), उज्जिहाना (उझानी, बदायूं, बकुल), हस्तिनापुर प्रसभ), कुरुक्षेत्र (यक्ष तरार्क, कुत रार्क, यक्षी उलूखल'मेखला), कोटिवर्ष (दीनाजपुर उत्तरी बंगाल, महासेन), गिरिव्रज (मागध), सैन्धव (खिउड़ा, मणिकानन), मध्यमिका (चित्तौड़, सौभद्रेय), मरूभूमि (जम्भक), दरद (मन्दर), काश्मीर (प्रभंकर), काश्मीर की सीमा (पांचिक), चीनभूमि (कम्बोज के उत्तर, पाँचिक का ज्येष्ठ पुत्र), कुलिन्द (यमुना और सतलज के बीच का पहाड़ी प्रदेश, उष्ट्रपाद), कापिशी (लंकेश्वर), बाल्हि (बाल्हीक, महाभुज), तुखार (वक्षु नदी के तट का तुखारिस्तान, वैश्रवण का पुत्र जिनर्षभ), सिन्धुसागर (सातगिरि और हैमवत), द्रमिड़ (पंचालगंड), सिंहल (धनेश्वर), अम्बुलिम (वर्तमान अम्ब, अटक से ६० मील ऊपर, पिंगल), पारत (बलोचिस्तान का हिंगुल प्रदेश, पाराशर), शकस्थान (अफगानिस्तान और ईरान की सीमा पर सीसतान, शंकर), उड्डियान (स्वातनदी की घाटी, कराल), वोक्काण (वखान, अफगानिस्तान का उत्तर पूर्वीभाग, चित्रसेन), रमठ (गजनी के आसपास हींग का प्रदेश, रावण)[१]।

---

(१) 'महामायूरी की भौगोलिक सामग्री' श्री सिलवाँ लेवी के मूल फ्रांसीसी लेख से; जरनल एशियाटिक, १९२५; अनुवादक श्री

इस सूची में यद्यपि निश्चित भौगोलिक क्रम का अभाव है किन्तु यह स्पष्ट है कि इसमें सिंहल से बाल्हीक कपिशा, स्वात और काश्मीर तक एवं शकस्थान, हिंगुलाज और सिन्धुसागर संगम से बंगाल के पुंड्रवर्धन तक का समस्त भूखंड सम्मिलित था। केरल, मलय और पांड्य ये तीनों बड़े भाग दक्षिणी भारत की सीमाओं के सूचक हैं। वेम, कनिष्क आदि शक राजाओं के समय में भारतवर्ष का भौगोलिक क्षितिज पाटलिपुत्र से शकस्थान तक विस्तृत था। उस समय मध्य एशिया की चीनभूमि एवं कूचा का प्रदेश भी इस साम्राज्य के अन्तर्गत थे। महामायूरी के सम्पादक श्री सिलवां लेवी के अनुसार संस्कृत का कौशिक जो महामायूरी की सूची में है बृहत्संहिता का कुशिक या कुचिक और मध्य एशिया का कूचा है। उस समय शकस्थान में शंकर यक्ष की मान्यता थी। वेम और कनिष्क आदि शकों ने शैवधर्म की दीक्षा वहीं ली जान पड़ती है। पहलव जो कि शकों के पूर्वज थे वेमचित्र यक्ष के माननेवाले कहे गए हैं। ज्ञात होता है कि सम्राट् वेमतक्षम का नामकरण इसी यक्ष के नाम से हुआ।

महामायूरी पंचरक्षा स्तोत्र की यक्षसूची एक दृष्टांत मात्र है। यह उस धार्मिक शैली की उपज है जिसमें देवी देवताओं के अर्वाचीन और प्राचीन रूप एवं विविध स्थानों के अधिष्ठातृ देवताओं का समन्वय करके एक ऐसी माला गूंथने का प्रयत्न किया गया जो मातृभूमि के प्रत्येक प्रदेश के पुष्प और वहाँ के विश्वासों के सौरभ को लेकर बनी हो। प्रायः प्रत्येक धर्म ने इस प्रकार की मालाओं से मातृभूमि के रूप को सजाने का प्रयत्न किया।

वासुदेवशरण अग्रवाल, यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी का जनरल, जिल्द १५, भाग २, पृ० २४–५२।

अध्याय ६

आर्थिक और भौतिक जीवन

देश के आर्थिक ढाँचे और भौतिक जीवन या रहन-सहन में भी एक सार्वदेशिक समानता है। यद्यपि इन विषयों में एक दूसरे से भेद भी बहुत है किन्तु भारतवर्ष के रहन-सहन के ढ़ंग को हम दूसरे देशों से अलग पहचान सकते हैं। यह सारा देश धन और भौतिक जीवन के प्रति एक प्रकार का दृष्टिकोण रखता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार बड़े आदर्श हैं जिन्हें पाने के लिये जीवन में प्रयत्न करना आवश्यक कहा गया है। धर्मानुसार धन का उपार्जन, उससे अपना और अपने कुटुम्ब का पालन, हित मित्र ज्ञाति सम्बन्धियों का संवर्धन और योग्य पात्रों में दान, यही धन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण रहा है।

वैदिक समय से यह देश कृषि प्रधान रहा है। आज भी ८० प्रतिशत जनता कृषि से जीवन निर्वाह करती है। अतएव भारतीय जीवन का

मुख्य ठाठ गाँवों के रहन-सहन पर खड़ा है। गाँवों के आर्थिक धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को टटोलने से जनता के दृष्टिकोण में विलक्षण एकता मिलती है। लोगों की आवश्यकताएँ कम, जीवन सादा और सन्तोषी है। वे खुले स्वभाव के मिलनसार और सरल प्रकृति के हैं। पृथ्वी के निकट रहनेवाले मनुष्यों में जो स्वाभाविक विश्वास की प्रवृत्ति होती है वह भारतीय जीवन में प्रायः सर्वत्र मिलेगी। किसान के जीवन की भाषा भारत के राष्ट्रीय मन की भाषा है। उसके द्वारा हम चारों दिशाओं में फैले हुए भारतीय मानव के हृदय को छू सकते हैं। किसान अपनी भूमि पर हजारों वर्षों से श्रम करता आया है। उसके हल बैलों का ठाठ सब जगह एक सा है। वह अपनी कृषि के उपार्जित फल पर उचित अधिकार चाहता है और यह यदि उसे प्राप्त हो तो भारतीय कृषक का जीवन सुख का जीवन समझा जाता है। भारत के आर्थिक जीवन की मूलभित्ति सदा से किसानों का जीवन रही है, राज्यों का उलट फेर नहीं--

राज्ञां सत्वे असत्वे वा विशेषो नोपलक्ष्यते।
कृषीवल विनाशे तू जायते जगतो विपत॥

कृषीवल-संस्कृति भारतीय आर्थिक जीवन की मौलिक सचाई और एकता है। अनेक नए प्रदेश आबाद हुए औरबहुत सी जातियां बाहर से आकर यहां बस गईं। वे सब कृषि जीवन के ताने बाने में समाती गईं। अपनी अपनी विशेषताओं को रखते हुए भी मातृभूमि के साथ मिलजाने का यही खुला हुआ रास्ता था कि लोग किसान की संस्कृति को अपना कर भूमि के साथ बद्धमूल हो जाते थे। आर्य,द्राविड, किरात, निषाद सबको एक से जीवन के सांचे में ढाल कर आर्थिक संन्तुलन देने का उपाय कृषि जीवन ही था। किसान भारत का सच्चा पृथ्वीपुत्र है। भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों या अधिकारों की कल्पना उसके लिये विदेशी है। भारतीय जीवन में, एकता के प्रतिपादक कितने ही भौतिक साधन हैं जैसे नदियां, वृक्ष वनस्पति, खनिज सम्पत्ति,

पशुपक्षी, उद्योग-धन्धे आदि। नदियों की लम्बी धाराएं भूमि के एक भाग को दूर से मिलता ती है। हिमवान से गंगासागर संगम तक गंगा का प्रवाह एकहै। दरददेश के पर्वतों से मैदानों में उतरती हुई सिन्धु नदी सिन्धु सागर संगम के प्रदेश की नाड़ी रही है जो वहां की कृषि और व्यापार दोनों की नियामक थी। पश्चिम वाहिनी नर्मदा विन्ध्य के पूर्वी छोर अमरकंटक को समुद्रतट के मरुकच्छ से मिलती थी पूर्ववाहिनी ओदवरी सह्यात्रि से महोदधि तक बहती हुई मानो सम्पूर्ण दक्षिणी पठार का मानदंड थी। सबलोग इन नदियों का साथ अपना सम्बन्ध समान रूप से मानते थे। ये हब की पोषणकर्त्री माताएं थीं:—

नद्यः विश्वस्य मातरः ।

नदियों के द्वारा व्यापार के मार्ग भी बनते थे। गंगा सदा से उत्तरी भारत के यातायात की प्रधान नाड़ी रही है। लम्बी-लम्बी सड़कें देश की एकता के मुख्य साधन हैं। संस्कृति के उषःकाल में ही राजमार्गों के निर्माण और रक्षा का महत्त्व लोगों के ध्यान में आ गया था। "हे पृथ्वी ! जन के यातायात के लिए एवं रथों तथा शकटों के आने जाने के लिये जो मार्ग तुम्हारे ऊपर बने हैं, जिन पर सबको चलने का अधिकार है, उन मार्गों में कोई लुटेरा या बटमार न रहने पावे, वे हम सब के लिये कल्याणकर हों[1]।"

प्राचीन साहित्य में जिन कई प्रकार के मार्गों का उल्लेख हुआ है वे देश के विभिन्न भागों की भौगोलिक परिस्थितियों के लिये आवश्यक थे, जैसे स्थलपथ, जंगलपथ, कान्तारपथ, वारिपथ, मेंढ़पथ (पहाड़ी पगडंडी)[2], अजपथ (अत्यंत संकरी पगडंडी जिस पर आमने-सामने से दो व्यक्ति एक

---

(१) ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानश्च यातवे। यैः संचरन्त्युभये भद्र पापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं तच्छिवं तेन नो मृड । अथर्व १२।१।४७

(२) मेंढ़ पथ से भी संकरी पगडंडी ।

साथ न निकल सकें), शंकुपथ (कठिन पहाड़ी मार्ग जहाँ खूंटियों के सहारे चढ़ा जाय), छत्रपथ (छाते से संतुलन रखकर चलने के रास्ते, झूले के पुल आदि), वेत्रपथ (जहाँ बेंत या लाठी से सम्हाल कर चलना आवश्यक हो), वेणुपथ (जहाँ एक किनारे के लम्बे बाँसों को दूसरी ओर झुका कर नदी पार की जाय आदि)। अर्थ शास्त्र में उत्तरापथ और दक्षिणापथ नाम से मार्गों के दो मोटे विभाग किये हैं और फिर उनके प्रकार बताए हैं, जैसे राजमार्ग (मुख्य मार्ग), स्थानीयपथ (विभिन्न राजधानियों को मिलानेवाले), द्रोणमुखपथ(जलथल दोनों के व्यापारकेन्द्र) राष्ट्रपथ (गाँवों को जानेवाले मार्ग), विवीतपथ (गोचर भूमियों के मार्ग) एवं व्यूह पथ (सैनिक मार्ग), हस्तिपथ, रथपथ, मनुष्यपथ, चक्रपथ आदि।

यद्यपि हिमालय पर्वत और दक्षिण के समुद्र भारतवर्ष को अन्य देशों से अलग करते हैं, परन्तु उन्हीं के रास्तों से इस देश का दूसरे देशों से सम्बन्ध भी स्थापित होता है। हिमालय की लम्बी प्राचीर में पूरब से उत्तर-पश्चिम तक कितने ही द्वार या दर्रे प्रकृति ने बनाए हैं। पूर्व में चीन और भारत को मिलानेवाला स्थलमार्ग ब्रह्मपुत्र-लौहित्य के पार जाता था। सिखिम के जरिये तिब्बत जाने का रास्ता था। कुमायूं और तिब्बतके लीपूलेख दर्रे में होकर कैलास मानसरोवर और गढ़वाल के माणानीती के घाटों से पश्चिमी तिब्बत में घुसने के मार्ग थे। एक मार्ग रामपुर-बशहर (प्राचीन किन्नर प्रदेश) में होकर सतलुज नदी के किनारे तिब्बत में जा मिलता था। परन्तु इन सबसे अधिक सुलभ और सभ्यता के निर्माण में सहायक उत्तर-पश्चिम के मार्ग थे। इन मार्गों के दो प्रधान गुच्छे थे, एक उत्तर में वंक्षुनदी से बाल्हीक और कपिशा होता हुआ गंधार में घुस कर उद्‌भांड में सिंधु नदी पार करके तक्षशिला से मिलता था। दूसरा रास्ता दक्षिणी अफगानिस्तान में कन्धार से क्वेटा की ओर खुल कर बोलन दर्रे के इस पार सीबी होता हुआ सिन्धु नदी पर उतरता था। इसी की एक शाखा मूला नदी के मार्ग से

बलूचिस्तान के मुख्य शहर बेला की ओर चली जाती थी। सीबी का पुराना नाम वसाति था। महाभारत में वसाति और मूला की दून में रहने वाले मौलेयों का एक साथ नाम आया है (वसातय : समौलेया :, सभा० ५१।१५)। इन दो मार्ग गुच्छकों के बीच में दो पतले पथ और थे एक कुर्रम (वैदिक क्रुमु) टोची नदियों के सहारे था जिसका प्राचीन नाम वर्णु पथ था। अर्वाचीन बन्नू उसी का स्मारक है। उशीनर देश (झंग मघियाना) से सिन्ध-सागर द्वाब के जलते हुए रेगिस्तान को पार करके यह रास्ता बन्नू की ओर जाता था। वंण्णु पथ जातक से मालूम होता है कि पूर्व की ओर से आनेवाले व्यापारियों को कभी-कभी कितनी तकलीफें उठानी पड़ती थीं। इसके दक्षिण में दूसरा मार्ग गोमल (वैदिक गोमती) और क्वेटा की ओर से आने वाली उसकी सहायक झोब (वैदिक यव्यावती) की तरफ से सिन्धु पर उतरता था। इस प्रदेश का प्राचीन नाम वनायु जनपद था जिसे आज वाना कहते हैं।

भारतीय इतिहास के निर्माण में इन मार्गों का बहुत प्रभाव पड़ा है। आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तर का रास्ता था। गन्धार से मध्यदेश को मिलानेवाला यह राजमार्ग उपनिषदों से पहले ही खुल चुका था। उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं कि यदि किसी मनुष्य की आँख पर पट्टी बांध कर उसे गन्धार से यहाँ (पंचाल में) लाकर छोड़ दिया जाय और फिर पट्टी खोल कर उससे कहा जाय 'इस दिशा में गन्धार है, इस तरफ तुम जाओ', तो वह चतुर आदमी गांव-गांव होकर मार्ग पूछता हुआ अवश्य गन्धार पहुँच जायेगा (छान्दोग्य० ६।१४।१।२)। पाणिनि ने इस रास्ते का पुराना नाम उत्तरपथ लिखा है[1]। यह मार्ग इतना व्यवस्थित था कि भारतवर्ष में

---

(१) उत्तरपथेनाहृतं च, (५।१।७७) उत्तरपथ से आने वाले व्यापारिक सामान कंबल घोड़े आदिक 'औत्तिर पथिक' कहलाते थे।

आने पर मैगस्थनीज के मन पर पहली छाप इसी राजमार्ग की पड़ी। यूनानी लेखकों ने उत्तरपथ का ठीक अनुवाद करते हुए इसे 'नारदर्न रूट' कहा है और उत्तर-पश्चिम से पूर्व तक इसके आठ भागों का उल्लेख किया है। पुष्कलावती से तक्षशिला फिर जेहलम पार करके व्यास तक, पुनः व्यास से सतलुज, सतलुज से यमुना, और वहाँ से गंगा के किनारे हस्तिनापुर, वहां से कान्यकुब्ज, कन्नौज से प्रयाग और प्रयाग से पाटलीपुत्र, वहां से भागीरथी के किनारे ताम्रलिप्ति तक यह मार्ग जाता था। हर कोस पर दूरी के सूचक पत्थर लगे थे। इस प्रकार भारतीय यातायात की यह बड़ी नाड़ी प्राचीन महान् जनपदों की राजधानियों (पुष्कलावती, तक्षशिला, शाकल, हस्तिनापुर, प्रयाग, पाटलिपुत्र) को मिलाती थी। इसे हम भारतीय इतिहास में उसकी सुरक्षा की राखी कह सकते हैं। जब तक यह राजमार्ग सुरक्षित रहा पश्चिम के साथ भारत की राजनैतिक और व्यापारिक स्थिति सुदृढ़ रही। चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक ने एवं गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त ने उत्तर पथ की भलीभांति रक्षा की थी। पुष्कलावती के उस पार वंक्षु तक यह मार्ग बढ़ा हुआ था और पूर्व से आनेवाले चीनी कौशेय पथों को लेकर पश्चिम की ओर बढ़ जाता था। भारतवर्ष के भीतरी प्रदेश भी एक दूसरे के साथ वणिक पथों से मिले हुए थे एक मार्ग श्रावस्ती से साकेत और कौशाम्बी होकर शोण के उपरले काँठे में होता हुआ दक्षिण कोशल की ओर जाता था। भरहुत का स्तूप इसी मार्ग पर था। दूसरा मार्ग मथुरा से अवन्ती और भरुकच्छ को मिलाता था एवं अवन्ती से प्रतिष्ठान तक जाता था। द्वारका, प्रभास शूर्पारक, गोकर्ण और कन्याकुमारी को मिलानेवाले समुद्री मार्ग का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसी प्रकार पूर्वी समुद्र तट पर भी नागपत्तन, कावेरीपत्तन, मसुलीपत्तन, विशाखापत्तन आदि थे। इन पत्तनों पर किसी समय द्वीपान्तरों से व्यापारिक सामान उतरता था और यहाँ से भारतीय पोत अपनी यात्रा पर निकलते थे। पूर्वी द्वीप समूह में

भारतीय संस्कृति के प्रसार के केन्द्र चोल मंडल, कलिंग और ताम्रलिप्ति के पोतपत्तन या जलपत्तन थे। इन केद्रों को मिलानेवाला तट का अनुवर्ती मार्ग कूल पथ और बीच समुद्र का मार्ग संयान पथ कहलाता था।

आर्थिक वस्तुओं के आदान-प्रदान द्वारा देश के दो दूरस्थ प्रदेश भी एक दूसरे को जान लेते थे। उदाहरण के लिये जातकों के युग में काशी और शिबि जनपद के मूल्यवान् वस्त्रों का नाम चारों ओर फैल गया था। जातकों के अनुसार स्वात के काँठे में बने हुए चटकीले लाल किनारों वाले कम्बल फौजी इस्तेमाल के लिये उत्तर भारत में लाए जाते थे जिन्हें पांडु कम्बल कहते थे (इन्द्रगोपकवर्णाभा गन्धारा पांडुकम्बला)। इनका उल्लेख पाणिनि ने भी किया है। पांड्य देश के मोती और दक्षिण के मणिजटित चीर उत्तर भारत में प्रसिद्ध थे। आर्थिक एकता का बहुत अच्छा चित्र महाभारत के सभापर्व में आया है, जहाँ युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में देश-देश के राजा अपने-अपने स्थान की अच्छी वस्तुएं भेंट में लेकर इन्द्रप्रस्थ में इकट्ठे हुए। हिमालय और हिन्दूकुश पर्वतों से बर्बर जातियों के राजा लोग वहाँ आए। पूर्व भारत के संथाल (शाणवत्य:) शबर और किरात भी उस यज्ञ में सम्मिलित हुए। पंजाब तथा भारत के अन्य प्रान्तों के पुराने राजवंश अपने साथ घोड़े, हाथी, शाल इत्यादि वहुमूल्य सामग्री युधिष्ठिर को भेंट करने के लिये लाए। कम्बोज (पामीर बदख्शा) के राजा तित्तिरकल्माष (गुलदार) घोड़े, तीन सौ ऊँट और खच्चर, भेड़ की ऊन के वस्त्र और समूर जिन पर सोने का काम बना था, कम्बल और पोस्तीन के वस्त्र युधिष्ठिर की सेवा में लाए। कार्पासिक (सम्भवत: कपिशा काफरिस्तान) देश के लोग अपने साथ तीन हजार सुन्दर दासियाँ जिनका रंग दमकता था और जिनके घने केश लहराते थे, बकरों के चमड़े तथा मृगचर्म लाए। भरुकच्छ के लोग गन्धार देश में उत्पन्न घोड़ों की भेंट लेकर उपस्थित हुए। सिन्ध बलोचिस्तान में रहनेवाली जातियाँ जैसे वैराम (रम्बकिय), पारद, वंग (बलूचिस्तान की लंग जाति) कितव (केज मकरान के निवासी) गौ,

सुवर्ण भेड़, बकरी, घोड़े, गधे और अंगूर की शराब (फलजमधु) एवं तरह-तरह के कम्बल लाए। प्राग्ज्योतिष का राजा यशब (अश्मसारमय भांड) के बर्तन और हाथी दाँत की मूठ वाली तलवारें लाया। एक पाद कबीले के लोग लाल, हरे, काले, इन्द्रधनुष के रंग के जंगलों से पकड़े हुए बहुत तेज घोड़े और बहुत सा सोना लाए। चीन, हूण, शक, ओड्र (उड्डियान, स्वातघाटी का प्राचीन नाम), पर्वताश्रयी (अफगानिस्तान के हिन्दूकुश पहाड़ में रहनेवाले) और हारहूर (दक्षिणी अफगानिस्तान में सरस्वती या हरह्वैती नदी के प्रदेश के कबीले) लोगों ने अपने देश की कला कौशल की सामग्री युधिष्ठिर को भेंट की। उसमें काले रंग के कद्दावर दस हजार जंगली गधे थे जो एक दिन में सौ कोस जा सकते थे। उनकी भेंट में बाल्हीक तथा चीन के बने वस्त्र भी थे जो ठीक नाप के अच्छे रंगोंवाले और खूब मुलायम (स्पर्शाढ्य) थे। इनमें ऊन के बने वस्त्र (और्ण), रंकु बकरों के रोयों से बने पशमीने (राँकव, पामीर के रंकु नामक बकरे का पशम बहुत मुलायम होता है), रेशमी वस्त्र (कीटज) और पटाम्बर (पट्टज) एवं तरह-तरह के नमदे (कुट्टीकृतवस्त्र) और कमल के रंगवाले मुलायम ऊनी वस्त्र और मेमनो की खालें (पोस्तीन, आविक अजिन) भी शामिल थीं। इन लोगों की भेंट में अनेक तरह के रस, सुगन्धित पदार्थ, रत्न, तेज तलवारें, शक्तियाँ और अपरान्त के बने हुए तेज फर्से थे। शक, तुखार (यूची जाति के लोग), कंक (चीनी इतिहास के कंगुलोग जो कंकु या सुग्ध बुखारा के उत्तर पश्चिम में थे) और लोमश एवं शृंगी (शक जातियों के नाम) लोग असंख्य घोड़े और सुवर्ण की राशि लाए। पूर्व भारत के राजा मणि कांचन और हाथी दाँत का काम किए हुए बहुमूल्य आसन, यान और शय्या लाए। इनकी भेंट में सोने से जड़े हुए और बाघ के चमड़े से मढ़े हुए बहुत से वैयाघ्र रथ थे जिनमें सधे हुए घोड़े जुते थे और नाराच, अर्धनाराच बाण, अनेक हथियार और बहुत तरह की झूलें थीं। कुणिद (यमुना की उपरली धारा का पहाड़ी प्रदेश) तंगण (उत्तरी गढ़वाल) और

परतंगण लोग पिपीलिक[1] नामक रवेदार सोना, हिमालय का स्वादिष्ट शहद और काले तथा सफेद बालों से बने हुए चमर लाए। उत्तरकुरु प्रदेश से पानी के जैसे हरे रंग के यशब से बनी हुई मालाएँ और कैलाश के उत्तर से वृष्य जड़ी बूटियाँ लाई गईं। पूरब में बारीसाल के समुद्रतट के निवासी एवं लोहित्य के तटवासी खाल पहननेवाले किरात लोग जो भेंट लाए उनमें चन्दन, अगरु, कालेयक, चमड़े, रत्न, सुवर्ण और दूरदेशों के पशु पक्षी थे। उनकी भेंट में किराती दासियाँ भी थीं। पुंड्रवर्धन, बंग, कलिंग और ताम्रलिप्ति के राजा दुकूल, रेशमी वस्त्र, पटोरे (एक तरह के रेशम के वस्त्र, पत्रोर्ण) और चादरें (प्रावार) लाए। काम्यक सर (उड़ीसा की चिल्का झील) के राजा ने कीमती झूलों से ढके हुए सुनहली पट्टियों से सजे हुए दस सहस्र कुलीन हाथी दिए। शूकर (सम्भवतः शबर लोग) राजाओं ने भी बहुत से गजरत्न भेंट में दिए। गन्धर्व या गन्धारदेश के राजा सोने के गंडों से सुसज्जित हरियाले रंग के चार सौ घोड़े देने के लिये लाए। सिंहल देश के राजा वैडूर्य (लहसुनिया रत्न), मोती, शंख और तरह-तरह के कालीन भेंट में लेकर उपस्थित हुए। उनके साथ मणिचीर पहने हुए साँवले रंग के पार्श्वचर जिनकी आँखों के कोए ताम्रवर्ण थे उपायन की सामग्री लेकर चल रहे थे।

महाभारत का यह चित्र आर्थिक क्षेत्र में देश भर में फैलें हुए डोरों का सूचक है। इसमें भी प्राचीन भारतीय भूगोल का क्षितिज वही है जिसका उल्लेख पिछले अध्यायों में हुआ है, अर्थात् कम्बोज (पामीर, बलूचिस्तान,

---

(१) प्राचीन भारतवर्ष में इस सोने की विशेष प्रसिद्धि थी। हीरो दोत ने भी इस सुवर्ण का उल्लेख किया है। इसे सोना खोदने वाली 'चींटियों' से निकाला हुआ कहा गया है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस तरह की किम्वदन्तियां फैली हुई थीं। वास्तव में ये चींटियां नहीं वरन् समूर पहने हुए खानों में काम करनेवाले तिब्बती मजदूर थे।

कामरूप और बंग एवं पाण्ड्य और सिंहल तक देश की दिक् सीमा का विस्तार था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (चौथी शती ईस्वी पूर्व) में भी इस व्यापार की कुछ झलक मिलती है। उस समय राजकोष में अनेक प्रकार की सामग्री आती थी। उसका उल्लेख करते हुए कहा गया कि मोती ताम्रपर्णी (सिंहल), पांड्यकवाट, महेन्द्र पर्वत (गंजम जिला) से लाए जाते थे। कुछ रत्न समुद्रपार से एवं मूला नदी के आसपास से आते थे। हीरे सभाराष्ट्र (विदर्भ), मध्यमराष्ट्र (दक्षिण कोशल), इन्द्रवान् (कलिंग) में होते थे। चन्दन जोंगक (असम), देवसभा (देवास) से, बिसी और महबिसी नाम की खालें हिमालय के उस पार म्लेच्छ देशों से, सामूर, चीनसी और सामूली नामक खालें बाल्हीक से, और सातिन नलतूल तथा वृत्तपुच्छ नाम के चर्म उड्डियान देश से लाए जाते थे। इसके अतिरिक्त नेपाल के थुलमे, बंग (मध्यबंगाल) के दुकूल, पुंड्र (उत्तरी बंगाल) के क्षौम और सुवर्ण कुड्य (पश्चिमी बंगाल) के पटोर (पत्रोर्ण) प्रसिद्ध थे। मदुरा, कोंकण, कलिंग, काशी, बंग, वत्स (कौशाम्बी) और महिष (दक्षिणी हैदराबाद) के सूतीवस्त्र बहुत अच्छे समझे जाते थे। कलिंग देश का कसौटी पत्थर अति श्रेष्ठ होता है।

स्थान नाम से वस्तुओं के प्रसिद्ध होने का एक अच्छा उदाहरण अमरकोश में पाया जाता है। वहाँ कालीमिर्च को मरीच, कोलक और धर्मपत्तन (२।९।३६) कहा गया है। धर्मपत्तन मलयद्वीप के पूर्वी किनारे पर एक नगर था जिसे धर्मराष्ट्र नगर भी कहते थे (नखोन् सिरी धम्मराट्, वर्तमान लिगोर)। वहां से मसालों के साथ मिर्च का चालान होकर वह माल कोलक में उतरता था जो कावेरी के मुहाने पर सुप्रसिद्ध कोलक नामक जलपत्तन था।

वाणिज्य और उद्योग-धन्धों की आर्थिक गठन भी मौलिक समानता पर आश्रित थी। उदाहरण के लिये नापतोल, सिक्के, सार्थवाह व्यापारियों के संगठन (निगम) एवं पेशेवर लोगों की संस्थाएँ (श्रेणी) इनके

प्रकार और नियम सुसम्बद्ध और निश्चित थे। एक स्थान के व्यापारी दूसरे प्रदेश की परिभाषाओं को जानते थे जिससे आपस में व्यापारिक आदान-प्रदान भली प्रकार चलता था। पुरानी कथाओं में सार्थवाहों के पाटलिपुत्र से तक्षशिला, चम्पा से ताम्रलिप्ति, श्रावस्ती से भरुकच्छ, मथुरा से दक्षिण मधुरा (मदुरा) तक माल लाद कर जाने का वर्णन आता है। शूर्पारक (वर्तमान सुपारा) में ५०० बड़े नैगम व्यापारी थे। निगम स्थानीय सराफे का नाम था। जो व्यापारी इसके सदस्य थे वे नैगम कहलाते थे। ऐसे लोगों की साख होती थी। दूर दूर के व्यापारिक केन्द्रों में उनकी कोठियाँ थीं और उनकी हुंडियाँ चलती थीं। निगम व्यापारियों का प्रधान श्रेष्ठी या महाश्रेष्ठी कहलाता था। इस प्रकार की निगम संस्थाएं, पालिपुत्र, चम्पा, काशी, श्रावस्ती, अयोध्या, मथुरा, विदिशा, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान, शूर्पारक, भरुकच्छ आदि बड़े-बड़े व्यापार केन्द्रों में बहुत ही समृद्ध अवस्था में थीं। कई स्थानों से निगमों की मोहरें मिली हैं, जैसे काशी के पास राजघाट की खुदाई में। सराफा और हुंडी के अत्यन्त विश्वसनीय संगठन प्रायः अठारहवीं शती के अन्त तक जीवित अवस्था में थे। व्यापारी अपनी व्यवसाय बुद्धि, सचाई और कार्यकुशलता से भौतिक जीवन में जो मेल मिलाप के स्रोत उत्पन्न करते हैं वे अन्य प्रकार से सम्भव नहीं होते। वे लोग संस्कृति के अग्रदूत होते हैं और अपरिचित क्षेत्रों में भी अपने प्रान्त, देश और भूमि की जय पताका पहले पहुँच कर स्थापित करते हैं। अवश्य ही महाजनपद युग से लेकर गुप्तकाल तक लगभग एक सहस्र वर्षों के समय में भारतीय सार्थवाह, नैगम, वाणिज्य, साँयात्रिक (साझे में जहाज लादनेवाले) और सम्भूय समुत्थान व्यापारियों ने न केवल स्वदेश में बल्कि वैदेशिक व्यापार के क्षेत्र में भी लहलहाते व्यापार की नींव डाली और अपने सत्य एवं उद्यम के आधार पर उसे यशस्वी बनाया। रोम, अरब, पारसीक, बाल्हीक, सिंहल और भारतीय द्वीप समूह (हिन्देशिया) के साथ भारतीय व्यापार के मूल्यवान् ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक

उपलब्ध हैं। पारसकूल के साथ भारतीय लोग शंख, चन्दन, अगरु, मंजीठ सोना, चाँदी, रत्न, मोती, मूंगा इन वस्तुओं का व्यापार करते थे। व्यापारी लोग माल की गाँठों पर अपनी मोहर लगाकर भेजते थे। इस तरह की कई हजार मोहरें पुरातत्त्व की खुदाई में मिल चुकी हैं। जिन स्थानों में मोहरें तोड़ कर गाँठें खोली जाती थीं उन्हें 'पुटभेदन' कहते थे। इससे इतना स्पष्ट सूचित होता है कि व्यापार के कुछ सर्वमान्य नियम और समझौते थे जिनका सर्वत्र सचाई से पालन किया जाता था।

स्पष्ट है कि इस व्यापार का आधार प्रमाणित नाप तोल और सिक्कों के व्यवहार पर आश्रित था। कौटिल्य ने लिखा है कि तोलने के बाट लोहे अथवा पत्थर के होने चाहिएं जो जल के स्पर्श से घट बढ़ न सकें। पत्थर भी अच्छे किस्म का मगध या मेकला (विन्ध्याचल का पूर्वी भाग) पहाड़ों का होना चाहिए। तराजू लोहे की होनी चाहिए। मोटे तौर पर देश में दो मान चालू थे, मागधमान और कालिंगमान। कहा जाता है कि नन्द राजाओं ने जब उत्तर भारत में पहली बार बड़ा साम्राज्य बनाया तो उन्हें नाप तोल की प्रामाणिक व्यवस्था करना आवश्यक ज्ञात हुआ[१]। वही 'मागधमान' कहलाया। लेकिन कलिंग में उनका पूरी तरह अधिकार न होने से वहाँ के लोग अपनी अलग नाप तोल मानते रहे।

व्यापारीवर्ग के समान उद्योग-धन्धा करनेवाले और कलाकौशल की वस्तुएँ बनानेवाले पेशेवर लोगों के भी संगठन थे जिन्हें 'श्रेणी[२]' कहते थे। प्राचीन साहित्य में १८ प्रकार की श्रेणियों के नाम आते हैं, जैसे

---

(१) व्याकरण में इस घटना का स्मारक एक उदाहरण बच गया है—नन्दोपक्रमाणि मानानि।

(२) एकेन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणी। (कैय्यट २।१।५९)। मेधातिथि के अनुसार श्रेणयो नाना जातीनां एक जातीयकर्मोपजीविनां सघाताः (२।३०)

कुम्भकार, पटेल, सुवर्णकार, सूपकार, गन्धकार, नाई (कासवग), माली (मालाकार), काछी, तम्बोली, चर्मकार, तेली (जन्तपीलग) बुनकर (गंछिय), छीपी (छिम्पाय) कसेरे (कंसकार), दर्जी (सीवग), ग्वाले (गुआर), भील और धीवर। इस सूची में नाम घट बढ़ सकते थे किन्तु मुख्य बात यह है कि श्रेणियों के निश्चित नियम थे, जिन्हें राज की ओर से भी मान्य समझा जाता था। मनु ने लिखा है कि 'धर्म वित् राजा को चाहिए कि जातिधर्म, जानपदधर्म, कुलधर्म और श्रेणीधर्म अर्थात् इन-इन संस्थाओं के रीतिरिवाजों की भली प्रकार छान-बीन करके उनसे अविरुद्ध अपने राजकीय नियम और कानूनों की स्थापना करे[१]।'

श्रेणी प्रभावशालिनी संस्थाएँ थीं। अपने सदस्यों में वे न्याय का निपटारा भी करती थीं। नारद, बृहस्पति और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ श्रेणी को व्यवहार निर्णय का अधिकार देती हैं, जो राजमान्य होता था। श्रेणियों में नौसिखियों के लिये बाकायदा नियम थे। देश में सर्वत्र श्रेणियों की प्रतिष्ठा थी। उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत समझी जाती थी। नासिक और मथुरा से मिले हुए अभिलेख बताते हैं कि राजा लोग भी श्रेणियों के पास धर्मार्थ दिया हुआ मूलधन जमा करा देते थे, जिसके ब्याज से सार्वजनिक पुण्य का कार्य किया जाता था। श्रेणियों का यह कार्य बैंक जैसा था। नहपान के जामाता उषवदात ने नासिक में दो कोलियों की श्रेणियों में तीन हजार कार्षापण जमा किये जिसके ब्याज से भिक्षुओं के लिये चीवर और कुछ साग सब्जी का प्रबन्ध किया जाता था[२]। हुविष्क के एक उच्च अधिकारी ने मथुरा में पुण्शाला का निर्माण करा कर सदावर्त के व्यय के लिये ११०० रुपयों (पुराण कार्षापण) की अक्षय

---

(१) जाति जानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मम् प्रतिपालयेत्॥ (मनु ८।४१)
यहां धर्म का अर्थ समयाचारिक धर्म या रीतिरिवाज है।

(२) नासिक गुफा अभिलेख एपिग्राफिया इंडिका ८।८२

नीवि दो श्रेणियों में जमा की। मथुरा और नासिक एक दूसरे से काफी दूर हैं और वहाँ के राज्य भी अलग थे, किन्तु ऊपर के लेखों में दोनों जगह चाँदी के कार्षापण सिक्कों के दान का उल्लेख है। एक तरह के सिक्के आर्थिक संगठन की एकता को प्रकट करते हैं। वस्तुतः चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के समय में बत्तीस रत्ती तोल का चाँदी का कार्षापण सिक्का राज्य भर में चालू था। इस तरह के सिक्कों के ढेर अफगानिस्तान से लेकर मैसूर तक पाए गए हैं। उनकी तोल और मूल्य एक से हैं और उन पर बने हुए चिन्हों[1] में भी घनिष्ठ एकता है, जैसा कि उनके विशेष अध्ययन से ज्ञात हुआ है। यह ठीक है कि मौर्यकाल से पहले और उसके बाद और भी अनेक प्रकार के सिक्के ढ़ाले गए, लेकिन उनकी तोल और मूल्य का आधार एक सर्वसम्मत व्यवस्था थी। राज्यों के बदल जाने पर भी उनके जारी किए हुए सिक्के चालू रहते थे और व्यापारी लोग बाजार में नये-नए सिक्कों के साथ उनके मोल और तोल का हिसाब लगा लेते थे। इस प्रकार नन्द राजाओं के समय (पाँचवीं शती ई० पूर्व) में चालू की हुई मुद्राएँ कुषाण और गुप्तकाल में भी चलती रहीं।

एक दूसरा उदाहरण अलाउद्दीन खिलजी के समय का है। दिल्ली की टकसाल के अध्यक्ष ठक्कुर फेरू ने लिखा है कि गुर्जर प्रतिहारवंशी भोज (९ वीं शती) के आदिवराह द्रम्म और नवीं से बारहवीं शती तक के सैकड़ों और प्रकार के अन्य राजाओं के सिक्के दिल्ली की टकसाल में आते थे। इनमें आबू, देवगिरि, वाराणसी, गुजरात, मालवा, चन्देरी की मुद्राएँ और अलाउद्दीन से पहले के दिल्ली के सुलतानों के भी अनेक सिक्कों के नाम आए हैं। इसका एक सुफल यह था कि राज्य

---

(१) प्रत्येक सिक्के पर पांच चिन्ह बने हुए हैं जिन्हें संस्कृत में रूप और अंग्रेजी में सिम्बल कहते हैं। ये सिक्के आहत कार्षापण कहलाते हैं। इनकी प्रामाणिक तोल ३२ रत्ती की थी।

बदलते रहते थे, किन्तु आर्थिक ढाँचा स्थिर रहता था और आर्थिक क्षेत्र में व्यापारी लोग आपसी लेन-देन के समय छोटे-छोटे राज्यों की सीमाओं को बाधक नहीं समझते थे। सत्य तो यह है कि न केवल आर्थिक क्षेत्र में वरन् जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी इतिहास के प्रत्येक युग में संस्कृति का ढाँचा और व्यवस्था भिन्न-भिन्न प्रांतों में एक-सी पाई जाती है। जिस प्रकार मौर्ययुग की कला, वेश-भूषा, साहित्यिक शैली और धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रान्तीय भेदों से ऊपर सारे देश में एक जैसी देखी जाती हैं, वही सचाई आर्थिक क्षेत्र में भी थी। यही तथ्य गुप्त युग या मध्ययुग में भी सही है। राज्यों के बटवारों से युग संस्कृति की एक रूपता में भेद नहीं देखा जाता।

अध्याय ७

जन

भारतभूमि पर रहने वाला जन अत्यन्त विस्तृत है। इसके अन्तर्गत हम उन समस्त मानव जातियों की गणना करते हैं जो यहाँ ही उत्पन्न हुईं या बाहर से आकर यहाँ बस गईं। इतिहास के महाकटाह में निरन्तर कितनी ही जातियों का समावेश इस भूमि पर होता रहा है और संस्कृति की कोई अनिर्वचनीय क्षेमवती शक्ति उन जातियों को यथास्थान सुरक्षित रखकर भी उन्हें एकता के साँचे में ढालने का प्रयत्न करती रही है। यह प्राणवती महाशक्ति सहिष्णुता और समन्वय के श्वास-प्रश्वास की सहायता से अपना कार्य करती रही है। यह पूर्व-युग में थी, आज भी है, आगे भी रहेगी। ऐसा विदित होता है कि भारतीय भूमि पर जनकी स्थिति का अन्तर्यामी सूत्र सभ्यता के उषःकाल में ही राष्ट्र निर्माताओं के ध्यान में आ गया था। उसके तेजस्वी स्वर

जो निम्नलिखित मन्त्र में प्रकट हुए स्थिर भाव से ऊँचे उठते चले गए और आज भी हम उनके कम्पन का अनुभव करते हैं।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथ्वी यथौकसम् ।

(अथर्व० १२।१।४५)

'मातृभूमि ध्रुव धेनु है, वह निश्चल भाव से खड़ी है। कितने ही प्रकार के जन, अपने-अपने स्थानों में बसे हुए, अपनी भाषा और धर्मों को मानते हुए पृथ्वी में सब ओर भरे हैं। मातृभूमि अपने अमृत तुल्य दूध की सहस्रो धाराएँ सबको समान रूप से दे रही हैं।' यह मन्त्र भारत की राष्ट्रीय संस्कृति का संविधानपत्र है, इसमें प्रत्येक के लिये रक्षा का सन्देश है। भाषा, धर्म और जन की निजी विशेषताओं की रक्षा का यह शाश्वत अभय पत्र है। यह तथ्य केवल पुस्तकों का विषय नहीं रहा किन्तु लोकजीवन के रोम-रोम में बिंध गया। जन के प्रति सहिष्णुता की यह भावना राष्ट्रीय जीवन के कल्याण की शीत वायु है। इसके झोंके सबको सुख पहुँचाते हैं।

प्रत्येक जन को उसकी विशेषताओं के साथ जीवित रहने की स्वतन्त्रता होगी, उसकी भाषा की रक्षा होगी, धर्म की रक्षा होगी, रहने के लिये स्थान मिलेगा। इस प्रकार के अनेक वरदानों की छत्रछाया में पोषित हुआ जन भूमि के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध में बँध जायगा। यही भारतीय जीवन की अति संक्षिप्त बारहखड़ी है।

भारतीय जन के विषय में विचार करते समय तीन मुख्य विशेषताएं सामने आती हैं:—

१—विविध जातियों के उपादान जो भारतीय जन में सम्मिलित हैं।

२—उन जातीय उपादानों की इच्छानुसार अधिक-से-अधिक रक्षा।

३—मौलिक एकता या समग्रता की ओर उनकी प्रगति।

जब हम जन जीवन के उपादानों की विविधता की बात सोचते हैं तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। जनयज्ञ में जितनी भिन्न आहुतियाँ इस भारत भूमि में पड़ी हैं उतनी संसार के किसी अन्य देश में नहीं। कहाँ-कहाँ से कितनी तरह की मिट्टियाँ काली, साँवली, गोरी, गेहुआं, पीली, भूरी आदि आदि भारतीय जन के काय निर्माण में सन कर एक में मिली हैं। आर्य, द्राविड़, निषाद, किरात, शक, पल्हव पारद, यवन, हूण, तुषार, काम्बोज, चीन, यक्ष, खस, असुर, राक्षस, शबर, कोल, मुंडा, टोडा, भील, चेंचु, पुक्कस, नाग आदि अनगिनत जातियां उपजातियां भारतीय जन में मिली हुई हैं। इतिहास उनके आवागमन रहन-सहन और घटने-बढ़ने की रोमांचकारी कथाएं कहता है। हमारी समझ से ऋक्ष, वानर आदि शब्द भी जातिवाची थे जो आग्नेय या निषाद वंश की उपजातियों के नाम थे। ऋक्षवान् पर्वत (छोटा नागपुर की ओर विन्ध्याचल का पूर्वी भाग) का नामकरण ऋक्ष जाति के निवासस्थान का स्मारक है। ऋक्ष और वानरों की राम के साथ मैत्री निषाद जातियों का आर्यों के साथ सम्मिलन प्रकट करती है। इसी प्रकार निषादवंशी राजा गुह का राम के साथ मैत्री सम्बन्ध भी है। किसी समय कोसल जनपद की सीमा तक निषाद जाति का विस्तार था। शृंगवेरपुर में गुह की राजधानी थी। वहीं उसने राम का स्वागत किया और उन्हें दक्षिणापथ की ओर बढ़ने में सहायता दी। आर्य संस्कृति के साथ निषाद संस्कृति के इस मेल का संस्कार आज तक लोक मानस में विद्यमान है। गोंडा, बहराइच, बस्ती आदि पूर्वी जिलों में काफी संख्या ऐसे लोगों की है जो अपने आप को निषाद कहते हैं और गुह को अपना पूर्वज मानकर उसकी पूजा करते हैं एवं इस समय हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं।

इस देश में आदिम जातियों के भंडार भरे हैं। और भी, कोई जाति ऐसी नहीं जिसमें भेद उपभेद न हों। असम, छोटा नागपुर, बस्तर दक्षिण हैदराबाद, मद्रास के पहाड़, जंगल और पठारों में इन मानवों

के ठट्ट भरे हैं। सदा से यहाँ उनका निवास रहा है। आज राष्ट्रीय दृष्टि से उनके पार्थक्य की बात सोचना अनुचित है, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि आरम्भकाल से ही हिन्दूकरण पद्धति के दायरे में वे खिच आए थे। वेदों में 'व्रात्यस्तोम' का उल्लेख आया है। व्रात्यों का जो वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि ये लोग आर्य संस्कृति से बाहर लूट-मार करके जंगली जीवन व्यतीत करते थे[1]। पाणिनि से ज्ञात होता है कि व्रात लोग लूट-मार से जीविका निर्वाह करने वाले नाना जातियों के लोग थे[2]। इन लोगों के भी आपस में कुछ अविकसित राजनैतिक संगठन थे, जैसे कि सिन्ध के किनारे के कबाइली लोगों में पाए जाते हैं। उत्तरपश्चिमी भारत में संघ और गणों के जो प्रयोग हो रहे थे उससे नीचे स्तर पर ये प्रयोग भी थे। इसीलिये अष्टाध्यायी में यह बताने के लिये उनका उल्लेख हुआ है कि उनके नाम किस तरह रक्खे जाते थे, जैसे कपोतपाका:।

जन के विविध जीवन की दूसरी विशेषता जो केवल भारतवर्ष में देखने में आती है वह यह है कि विभिन्न स्तरों पर ये जातियाँ समाज में अपना जीवन निर्वाह करने के लिये स्वतन्त्र रहीं हैं। प्रत्येक जाति आन्तरिक स्वराज्य का उपभोग करती थी। यह उसकी इच्छा है कि वह अपने निजी जीवन की कौनसी विशेषता रखना चाहती है और कितना अंश वह दूसरों से लेना चाहती है। भाषा, धर्म, देवी देवता, विश्वास, सामाजिक संस्कार सब के विषय में हर एक समुदाय या वर्ग अपनी इच्छानुसार जीवन ढालने में स्वतन्त्र था। किसी केन्द्रीय

---

(१) धनुष्केण अनिषुणा व्रात्याः प्रसेधमाना यन्ति। (लाट्यायन श्रौत-सूत्र ८।६।७) टीका.... व्रात्या लोकं प्रसेधमाना आसेधन्तः त्रासयन्तो यन्ति। और भी कात्यायन श्रौतसूत्र २१।१२३-१४८।

(२) अष्टाध्यायी ५।२।२१ और ५।३।११३ नानाजातीया अनियत-वृत्तयः। उत्सेधजीविनः संघा व्राताः।

शक्ति ने बलपूर्वक यदि जातीय जीवन को एक तरह के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया होता तो उसका नतीजा यही हो सकता था कि या तो ये समुदाय मार काट के द्वारा समाप्त हो जाते और या अपना सब कुछ भूल कर दूसरी जीवन पद्धति और संस्कृति अपनाने के लिये मजबूर होते। मानवी दृष्टि से ये दोनों बातें अवांछनीय हैं। किसी के धार्मिक विश्वास या संस्कृति का धरातल जैसा भी है, उसे अपने अस्तित्व की स्वतन्त्रता है। इसी आधार पर भारतीय समाज रचना की नींव रक्खी गई। प्रत्येक जाति अपने क्षेत्र में आत्मतृप्त और अपनी संस्कृति की गोद में सुखी रहती है। उनकी इस स्थिति को स्वीकार करते हुए ही भारतीय संस्कृति ने अपने देशव्यापी प्रभाव के अन्तर्गत उन्हें खींचा। यह प्रभाव अत्यन्त गूढ़ और स्वाभाविक रीति से स्वतः सब पर पड़ने लगा। देश में राष्ट्रीय जन हजारों प्रकार से इस प्रभाव का अनुभव करता था। एक गंगाजी के मेले को लें। भूमि पर रहनेवाले जन का कोई व्यक्ति ऐसा न होगा जो उस प्रभाव के खिचाव का अनुभव न करता हो। पर्व उत्सव मेले संस्कार कितने ही रूपों में संस्कृति की ये किरणें लोक मानस को भृंगी कीट की तरह अपने स्वरूप में ढालती हैं। यह प्रभाव एक दूसरे पर बड़े मधुर ढंग से पड़े हैं। न जाने कितनी बातें आर्यों ने द्राविड़ों से, द्राविड़ों ने आर्यों से, एवं आर्य और द्राविड़ों ने निषादों से, और निषादों ने इनसे ली हैं। कुलदेवता, ग्राम देवता, नगर और नदी देवताओं की आपस में ऐसी गड्डमड्ड हुई है कि अब वे समस्त देश के बन गए हैं। जिसकी जैसी रुचि है वह उसे स्वीकार कर लेता है। जिस प्रकार वर्षा में नदी प्रतिवर्ष मिट्टी की तहें अपने तटों पर छोड़ती है उसी प्रकार युग-युगान्तर के भीतर से विचारों के अनेक कोष भारतीय संस्कृति में संपुटित हुए हैं। आज उनकी पृथक् पृथक् पहचान असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। संस्कृति की यह प्रभावशालिनी प्रक्रिया ही हिन्दूधर्म की पद्धति है। इसका सबसे पूर्णरूप पौराणिक हिन्दूधर्म है। वह एक बड़े जंगल की तरह है जिसमें छोटे तिनके से लेकर देवदारु

के सौ-सौ फुट ऊँचे वृक्ष जगह छेंके खड़े हैं। सब अपनी-अपनी चौपाल के चौधरी हैं, और हँस कर सूर्य का स्वागत करने के लिये स्वतन्त्र हैं। एक वायु उन सबको झकझोरती है और एक ही मेघ की बूंदें उनके शरीर को पुष्ट करती हैं। सबके जीवन रस का स्रोत इसी भूमि में है। ऐसे ही जितने भी जन हैं उनकी सांस्कृतिक जड़ें इसी देश की भूमि के साथ जुड़ी हुई हैं। तभी भूमि के साथ उनका आत्मीय सम्बन्ध पूरा और पक्का हो सकता है। कहते हैं कि यहाँ पहले निषाद मुंडा जाति का निवास था। कोल संथाल, मुंडा, शबर, हो, कोरुवा, खाड़िया, कुरक्, जोयांग आदि उनके अनेक भेद देश में आज भी आबाद हैं। निषाद वंश की ये जातियाँ दक्षिण पूर्व के भारतीय द्वीप समूह की जातियों से सम्बन्धित थीं जिनका सिलसिला हिन्द चीन, कम्बोज, मेलेनेशिया और पोलीनेशिया के असंख्य द्वीपों में बसे हुए जन समूह तक चला गया था। जो हो आज ये जातियाँ भारतभूमि के अविभाज्य अंग हैं। उनकी भाषा और धर्म दोनों भारत की भूमि से बद्धमूल हैं। वस्तुतः निषाद वंश की भाषाओं ने आर्य भाषाओं के भंडार को अनेक शब्द प्रदान किये हैं और उनके धार्मिक विश्वासों से भी भारतीय धर्मों का ताना-बाना अधिक समृद्ध हुआ है। जीवन में जिन स्थूल वस्तुओं का भूमि से सम्बन्ध है, जैसे वृक्ष, वनस्पति-पहाड़, खाड खड्डु, पत्थर, मिट्टी, आवश्यक औजार और जंगली पशु आदि, इनके नामकरण में निषाद भाषाओं के शब्द आर्य भाषाओं में लिये गए होंगे। एक विद्वान[1] का कथन है कि गोदा नाम जो अब संस्कृत का जान पड़ता है, वह शबर भाषा का है। उस भाषा में गो का अर्थ बड़ा और डा का अर्थ पानी की चादर। गोडा का ही संस्कृत रूप गोदा है। परलाकि-मिडि से पेद्दकिमिडी तक फैला हुआ १५० मील लम्बा और १०० मील चौड़ा फैला हुआ शबर जाति का हृद्देश है। इसके पश्चिम की

---

(१) श्री जी० बी० सीतापति, प्रधान संपादक तेलगु शब्दकोश।

सीमा आज भी शबरी नदी है जो गोदावरी में मिली है । उसी शबरी के पास ही बस्तर के मध्य से इन्द्रवती नदी बही है। ज्ञात होता है कि शबरों के प्रदेश में जब आर्य उपनिवेश बने तब इंद्रवती यह नाम पड़ा होगा। वे अपने आपको 'सोअरा' कहते हैं। स्थानीय नामों में उनकी भाषा के अनेक शब्द सुरक्षित हैं। परलाकिमिडी नाम में परला तेलगु भाषा का शब्द है जो गाँव का वाचक है, और शबर भाषा का किमिडी शृंखला का (मिड् एक, डिआ कटिभाग), अर्थात् परलाग्राम की पर्वत शृंखला। भारतीय साहित्य में शाबर मन्त्रों का उल्लेख हुआ है। शिव की एक कल्पना शबरों के देवता के रूप में और पार्वती की शबरी के रूप में है। ये शबर धर्म और हिन्दूधर्म के मेल के सूत्र हैं। शबर, मुंडा आदि जातियों के धार्मिक विश्वास मन्त्र-तन्त्र एवं भाषा और गीतों के वैज्ञानिक अध्ययन से इस अतीत इतिहास की कुछ कड़ियाँ अवश्य प्राप्त की जा सकेंगी। वैज्ञानिकों का विचार है कि आदिम वासियों की जो शाखाएं हिन्दूकरण पद्धति के अन्तर्गत खिंच आई उन्होंने स्वेच्छा से शव-निखात की प्रथा त्याग दी और अपनी परिवर्तित स्थिति की सूचक अग्निदाह की प्रथा स्वीकार कर ली। उत्तर और दक्खिन की कितनी ही जातियों में ऐसा हुआ।

भारतीय जन के अन्तर्गत दूसरा बड़ा समुदाय द्राविड़ लोगों का है। द्रविड़ अथवा द्रमिड़ शब्द का ही रूप तमिल् है। इस समय दक्षिण भारत के द्राविड़ देश में तेलुगु, कन्नड़, तमिल और मलयाली भाषा बोलनेवाले लोग आन्ध्र, कर्णाट, तामिलनाड (नाटु, प्राचीन तमिल शब्द = राष्ट्र) और केरल इन प्रदेशों में रहते हैं। भारतवर्ष के प्रायः एक पंचमांश लोग आज भी इन भाषाओं के बोलनेवाले हैं। ऐसा विश्वास है कि किसी समय द्राविड लोग उत्तर-पश्चिम भारत में एवं पश्चिम और मध्यभारत में भी प्रबल थे। गोंडी भाषा द्राविड़ परिवार की ही है, जो मध्यभारत और मध्यदेश के भीतर भी किसी समय दूर तक फैली हुई थी। द्राविड़ों के आदि निवासस्थान के विषय में और उनकी

आदि द्राविड़भाषा किस परिवार की थी, इस विषय में अभी सन्देह है। एक अनुमान है कि द्राविड़ लोग पश्चिमी एशिया, संभवतः पूर्व भूमध्यसागर के अंचल से भारत की ओर आए। बिलोचिस्तान में ईरानी आर्यभाषी बिलोच और पठान तथा भारतीय आर्यभाषी सिन्धियों के बीच में अभी तक ब्राहुइ नामक एक जाति रहती है। इसकी 'ब्राहुइ' भाषा द्राविड परिवार की है। इससे यह अनुमान होता है कि एकसमय आर्य भाषा के प्रसार से पूर्व बलूचिस्तान में और पास के सिन्ध प्रदेश में भी ब्राहुइ के समान द्राविड़ भाषा चलती थी। सहस्राब्दियों पूर्व वैदिक आर्यों और द्राविड़ों का अवश्य सम्पर्क हुआ और उसके फलस्वरूप सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी हुआ। आर्यभाषाओं में मूर्द्धन्य ध्वनि का प्रचार प्राचीन काल में द्राविड़ भाषा के प्रभाव से ही हुआ जान पड़ता है। संस्कृत भाषा के अनेक शब्द मूल में द्राविड़ भाषा से उत्पन्न हुए हैं। खंड, आडम्बर, तंडुल, फल, कपि, अटवी, अरविन्द, कबरी, कवच, धम्मिल, कूट, कुलत्थ, चपेट, कूर्पर, तट, कोट, चीर आदि शब्द द्राविड़ भाषाओं से आर्यभाषाओं में आ मिले हैं। किट्टल ने अपने कन्नड़ कोश की भूमिका में ऐसे लगभग ४५० शब्दों पर विचार किया है[१]?

---

(१) **देखिये सुनीतिकुमार चटर्जी, द्राविड़, लोकवार्ता दिसम्बर १९४४ पृ० १४१-१५२। सुनीति बाबू का सुझाव है कि आदि द्राविड़ों का जातीय नाम संभवतः द्रमिल अथवा द्रम्मिज था। उसके बाद लीसिया के लोग इस नाम को 'तृम्मिलि' लिखते रहे। हेरोदोत इसे 'तेरमिलाइ' लिखा है। भारतवर्ष में इनका जातीय नाम सम्भवतः पहले द्रमिज प्रचलित था। आर्यों ने इस नाम को संस्कृत में द्रमिल द्रमिड़, अथवा द्रविड़ के रूप में बदल लिया जो बाद में पाली तथा सिंहली भाषा में 'दमिल' मिलता है। ई० सन् की प्रथम सहस्राब्दी के मध्यभाग में इसका रूप तमिल हो गया।**

संस्कृत और प्राकृत के इतिहास में ज्यों ज्यों शताब्दियाँ बीतती गईं और दक्षिण तथा उत्तर का सम्पर्क बढ़ा विभिन्न युगों की आर्यभाषाओं में द्राविड़ शब्द गृहीत होते रहे एवं द्राविड़भाषा में भी संस्कृत और आर्य शब्द खुल कर लिये गये। इस समय भाषाओं का यह समन्वय इस दर्जे पर पहुंच गया है कि मलयालम में लगभग ८० प्रतिशत, तेलुगु में ६० प्रतिशत, कन्नड़ में ५० प्रतिशत और तमिल में ३० प्रतिशत, शब्द संस्कृत भाषा के हैं। द्राविड़ परिवार में अन्य भाषाओं का साहित्य तो १००० वर्ष पहले तक जाता है। सबसे प्राचीन तेलुगु पुस्तक नन्नयकृत महाभारत का आंशिक अनुवाद ११वीं शती का है और प्राचीन कन्नड़ के कुछ लेख ईसा से पांच सौ वर्ष बाद तक के हैं। किन्तु तमिल भाषा का साहित्य लगभग ई० सन् के आरम्भ का है जो अत्यन्त विस्तृत, काव्य, नाटक, व्याकरण आदि बहुमुखी विषयों से युक्त, एवं उच्च संस्कृति का द्योतक है। इस साहित्य की अन्तरात्मा शुद्ध भारतीय है और पदे पदे भारतीय संस्कृति की मौलिक एकता का प्रमाण देती है। सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तर भारत और दक्षिण के काव्य दोनों की पृष्ठभूमि एक जैसी है। उदाहरण के लिये 'शिलप्पाधिकारम्' काव्य[1] के निम्नलिखित अंश में उत्तर और दक्षिण के सांस्कृतिक अभिप्राय बे-रोक टोक एक दूसरे में मिले हुए हैं।

"एक विद्याधर ने अपनी प्रियतमा के साथ रजताद्रि कैलास पर मदनोत्सव मनाया। उसी समय उसे ध्यान आया कि दक्षिण भारत की पुहार नामक राजधानी में इसी समय इन्द्रमह हो रहा है। उसने अपनी स्त्री से कहा, "प्रिये, चलो पुहार का उत्सव देखें, जहां माहा भूतम् साक्षात् रूप में उस हवि का भक्षण करते हैं जो असुरों के बाणों से भय भीत इन्द्रपुरी की रक्षा करनेवाले पुरुषव्याघ्र मुचकुन्द की सहायता करने

---

(१) इलंगो अडिगल नामक चेर राजकुमार द्वारा विरचित। शिलम्बु नूपुर, उसकी कहानी के आधार पर विरचित काव्य।

के उपलक्ष में उसे दी जाती है। चलो वहां उन पाँच मंडपों को भी देखेंगे जिनका वास्तु सौन्दर्य अद्भुत है, जो इन्द्रप्रदत्त हैं और जिन्हें अमरावती के रक्षक मुचुकुन्द के पूर्वजों ने पृथ्वी पर बनाया है।

अगस्त्य ने यह देखकर कि सहस्राक्ष इन्द्र के समक्ष उर्वशी के नृत्य में नारद की वीणा ठीक नहीं बज रही, शाप दिया "परिवादिनी के सौभाग्य का अन्त हो और नर्तकी पृथ्वी पर जन्म ले"। उसी उर्वशी का अवतार माधवी है। चलो पुहार में उसका नृत्य देखें। हे विद्रुम के समान अधरवाली सुमध्यमा, वहाँ हम देवराज इन्द्र की भी पूजा करेंगे।" यह कह कर वह अपनी प्रिया को हिमालय के शिखर, गंगा की धारा, उज्जयिनी पुरी, विन्ध्याटवी, तिरुपति पर्वत और सस्य सम्पत्ति से भरी हुई कावेरी की उपकंठ भूमि को दिखाता हुआ पुष्प निकुंजोंवाली पुहार नगरी में आया। वहाँ उचित विधि से इन्द्र की पूजा करके उसने अपनी प्रियतमा को पुहार के दर्शन कराए और फिर उस प्राचीन सम्पन्न राजधानी में सुखकर महोत्सव देखा। उसने कहा, "प्रिये पहले तुम विष्णु के सम्मान में देवपाणि संगीत सुनोगी फिर चार वर्णों से चार भूतों की पूजार्थ गाए हुए चार पद सुनोगी और फिर आकाश-चारी चन्द्र की स्तुति में पदगान सुनोगी। पीछे शिव के नृत्य देखना जिसमें उमा स्वयं ताल देती हैं।"

शिलप्पाधिकारम् ६। पं० १ ४०।

सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से द्राविड़ और आर्य इन दोनों का साहित्यिक, धार्मिक और दार्शनिक समन्वय इतना घनिष्ठ हो चुका था कि उनके किसी भी प्रकार अलग होने की कल्पना अर्वाचीन आन्दोलन से पहले किसी के ध्यान में भी न थी। भारत के सांस्कृतिक चक्षु में जो देखने की शक्ति है उसका पूरा वरदान दक्षिणापथ और उत्तरापथ के निवासियों को मिला था। दक्षिण उत्तर के भेद या स्पर्धा का भारतीय मस्तिष्क में बिलकुल अभाव है। सांस्कृतिक प्रगति के लिये दोनों एक ही रथ के दो पहिए हैं, अथवा एक ही प्राणवायु के दो

नासिकाद्वार हैं। किसी पूर्व कल्प में उत्तर के अगस्त्य ऋषि विन्ध्याचल पार करके दक्षिणापथ में पहुँचे थे। दक्षिण ने उन्हें अगस्त्य गुरु के रूप में स्वीकार किया। एक प्रकार से इस कहानी में उत्तरापथ की संस्कृति के प्रति पूज्य बुद्धि का ही कथन है। नये प्रकार की राष्ट्रीय चेतना से पहिले जो धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना थी उसमें देश की एकता के लिये जितना कार्य संसिद्ध हो चुका था उसे आगे बढ़ाने की आवश्यकता है, न कि पीछे हटाने की।

हिन्दू सभ्यता मुख्यतः वैदिक आर्यों की सृष्टि है। इस संस्कृति में जो कुछ श्रेष्ठ सुन्दर साधु सत् और शाश्वत है वह प्रायः आर्य जाति का दान है। यद्यपि मूल में आर्य जाति का सम्बन्ध वैदिक साहित्य से था, किन्तु इस समय उपलब्ध समस्त हिन्दू साहित्य उन्हीं की विचारधारा से अनुप्राणित हुआ है। उसमें जो अनेक अंश लोक जीवन और लोक संस्कृति से आए हैं आज वे सब मिलकर उस गंगा की धारा के तुल्य बन चुके हैं कि जिसमें एक-एक गाँव से बहकर आता हुआ जल एक रूप हो जाता है और गंगा यही नाम शेष रहता है। गंगा का समग्र रूप मंगल्य और मनोहर है। उसमें खंड या भेद नहीं। हाँ, उसके तटों पर छोटे बड़े अनेक तीर्थ हैं। ऐसे ही भारतीय संस्कृति में धर्म और दर्शन के अनेक प्रयोग हैं। उपनिषदों का ब्रह्मचैतन्यवाद एवं नदी देवता और वृक्ष देवताओं की देहातों में फैली हुई जनश्रद्धा—इनके बीच में विचारों के अनेक स्तर हैं। समन्वय की दृष्टि से यही कहा जाता है कि रुचियों के भेद से वे सभी उपयोगी हैं। जिस प्रकार अनेक पगडंडियाँ एक चोटी पर ले जाती हैं, उसी प्रकार सांस्कृतिक विचारों के ये अनेक मार्ग हैं। जैसे भारतीय जन में कुछ भी त्यागने योग्य नहीं है, सभी राष्ट्र के अंग हैं, वैसे ही जनता के धार्मिक विश्वासों के प्रति विग्रह बुद्धि न रख कर हमें सहिष्णु दृष्टिकोण अपनाना होगा।

भिन्न विचारधारा के लोगों को एक धार्मिक धारा के साथ संतुलित

करके उनके मन को एकता की ओर मोड़ने की परिपाटी पूर्व युग में थी। इस उपाय से अनेक आचार्यों ने बाहर से आनेवाले शक यवन तुषार, हूण आदि विदेशी जनों को उन्मुक्त हृदय से भारतीय समाज और धर्म में स्थान दिया। लगभग पहली दूसरी शती ई० पूर्व में भागवत धर्म का यह दृष्टिकोण बहुत उदार और शक्तिशाली हो गया था। हेलियोदोर नामक यवन राजदूत ने भागवत धर्म स्वीकार किया और बेसनगर में देवदेव वासुदेव के लिये गरुड़ध्वज की स्थापना की। इस लेख के अन्त में कहा गया हैं—

"तीन अमृत के पद हैं जिनका ठीक अनुष्ठान स्वर्ग का मार्ग बनाता है—दम, त्याग और अप्रमाद।"

महाभारत में भी कहा गया हैः—

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्। (५।४३)

मथुरा में महाक्षत्रप शोडाश ने भी इसी प्रकार भागवत धर्म के प्रति आस्था प्रकट की थी। इस समय भारतीय संस्कृति में नए आगन्तुक जनों का निर्बाध प्रवेश हो रहा था। उनके लिये समाज में एक नए चौड़े रास्ते की आवश्यकता थी जो भागवत धर्म और बौद्धों के महायान धर्म के रूप में सामने आया। घट-घटव्यापी विष्णु के रूप में ईश्वर का धर्म में प्रचार किया गया और संस्कृति का मार्ग सबके लिये खोल दिया गया। भागवत का निम्नलिखित श्लोक उस समय के सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण की प्राणमयी व्याख्या है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्द पुक्कसा आमीरकंका यवना खसादयः।
ये न्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥
(भागवत् २।४।१८)

इस सम्बन्ध में मातृभूमि के प्रत्येक पुत्र को सदा यह सत्य स्मरण रखना चाहिए जिसका बहुत पहले ही यहां अनुभव कर लिया गया थाः—

भूमिरावपनं महत्

'मातृभूमि वह बड़ा थैला है जिसमें सबके लिये स्थान है।'

देश के भीतर ही कितनी ही जातियों के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाकर बसने का उल्लेख है। पंजाब के वीर मालव जिन्होंने सिकन्दर से लोहा लिया था तीसरी शती ई० पूर्व के लगभग अपने स्थान से उठकर उत्तरी राजपूताने में होते हुए जयपुर के दक्षिण ककोर्ट नगर में आ बसे थे जहाँ उनके बहुत से सिक्के मिले हैं। कालान्तर में वहाँ से आगे बढ़कर कोटा होते हुए गुप्तकाल से कुछ पहले वे अवन्ति के चारों ओर आ बसे और तभी से यह प्रदेश मालवा कहलाया। इसी प्रकार उशीनर (झंग मघियाना) के निवासी शिबि उदयपुर चित्तौड़ के समीप मध्यमिका में आ बसे, जहाँ उनके शिलालेख मिले है। दक्षिण पूर्वी पंजाब में हिसार जिले के अगरोहा (प्राचीन अग्रोदक) केन्द्र से अग्रवाल जाति युक्तप्रान्त और राजस्थान में फैल गई और नये-नये प्रदेशों में बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से बस गई। पृथ्वी सूक्त की कल्पना के अनुसार जिस प्रकार घोड़ा अपने शरीर की धूल चारों ओर झाड़ता है उसी प्रकार जन भी भूमि पर फैले। मध्यकालीन शिलालेख इस प्रकार के उल्लेखों से भरे हैं कि एक स्थान के ब्राह्मण अन्यत्र जाकर संन्निविष्ट हुए। अन्य जातियाँ भी स्वदेश के प्रत्येक भाग को अपना मान कर वहाँ जाकर बस जाती थीं। इसका इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण लाट देश (उत्तरी गुजरात) के बुनकरों की श्रेणी का है जो अपने समस्त परिवारों के साथ मालवा के दशपुर नामक स्थान में आ बसे थे। अपने नए क्षेत्र में भी उन्होंने सुन्दर रेशमी वस्त्रों से समाज में ख्याति प्राप्त की। उस पट्टवाय श्रेणि ने अपने शिल्प से धनोपार्जन करके मन्दसोर में सुन्दर सूर्य का मन्दिर बनवाया[१]। राजाओं के विवाह सम्बन्ध दूर दूर प्रान्त की राजकन्याओं के साथ होते थे। वर्णरत्नाकर की एक सूची में उनके नाम इस प्रकार दिए हैं:—

'तेलंगिनी, मरहठिनी, गौड़िनी, कनउजिनी, नेपालिनी, मालविनी,

---

(१) **कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा का मन्दसोर शिला-लेख, ४३६-४७३ ई०**

तिरहुतिनी, जजाउतिनी (जुझौति या बुन्देलखंड), कौंचिवारिनी (दक्षिण का कांचीवरम्) मागधिनी, कमतवारिनी (कोंतवार, चम्बल पार्वती के बीच का प्रदेश, प्राचीन कुन्तिराष्ट्र), मोरावनी (मरुदेश), कास्मीरिणी।

इस प्रकार दूर-दूर के प्रान्तों में परस्पर विवाह सम्बन्ध की कल्पना का सुन्दर चित्र कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंबर के प्रसंग में खींचा है।

'विदर्भदेश की राजकुमारी इन्दुमती से विवाह करने के लिये उत्सुक अवन्ति, माहिष्मति (चेदि), मथुरा, कलिंग, पांड्य देशों के राजकुमार एकत्र हुए' (रघु० सर्ग ६)

विविध प्रान्तों में ऐक्य भावना लाने का यह सबसे अच्छा मार्ग था। देश में फैला हुआ जन जितनी दूर तक अपने को एक समझता है वहीं तक विवाह आदिक सम्बन्ध जोड़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अत्यन्त प्राचीन काल में जनपदों की सीमाओं से ऊपर उठकर पारस्परिक विवाह सम्बन्ध उन्मुक्त रूप में होते थे। इन ओत-प्रोत तारोंका एक सचित्र वर्णन महाभारत में मिलता है। एक ही पुरुवंश में राजा पुरु ने कोशल देश, प्राचिन्वान ने अश्मक, सार्वभौम ने केकय, जयत्सेन ने विदर्भ, अक्रोधन ने कलिंग, देवातिथि ने विदेह, ऋच ने अंग, भरत ने काशि, भुमन्यु ने दशार्ह (काठियावाड़,), हस्ति ने त्रिगर्त, अजमीढ़ ने केकय और गन्धार, विदूरथ ने मगध, प्रतीप ने शिबि, धृतराष्ट्र ने गन्धार, और पांडु ने मद्र और कुन्तिराष्ट्र देशों की राजकुमारियों से विवाह किए, (आदि० अ० ९०)

इस वर्णन का भौगोलिक क्षितिज गन्धार से कलिंग और दक्षिण में अश्मक और पश्चिम में कठियावाड़ तक विस्तृत था जिसके अन्तर्गत रक्त संबंधों का दृढ़ संघटन सामाजिक जीवन की एक स्वाभाविक सचाई थी। मातृभूमि की मौलिक एकता के ये प्राचीन सूत्र अर्वाचीन जीवन के लिये भी उतने ही आवश्यक हैं। जहाँ ये निर्बल पड़े हों वहां उन्हें पुनः पुष्ट करना होगा।

अध्याय ८

भाषा और साहित्य

भाषा और साहित्य मनुष्य की उत्कृष्टतम कृतियाँ हैं। वे मानव के अन्तरतम विचारों का परिचय देते हैं। भेदों से ऊपर उठकर एकता की खोज में मनुष्य ने जो प्रयत्न किए और जो सफलता उसे मिली उनका सबसे स्पष्ट दर्शन साहित्य में सुरक्षित रहता है। भारतीय भाषा और साहित्य में देश की मौलिक एकता के जो दृढ़ प्रमाण उपलब्ध होते हैं उनसे सदा के लिये यह प्रश्न विवाद से ऊपर उठ जाता है। मातृभूमि और राष्ट्रीयता के संबंध में साहित्य की साक्षी अत्यन्त प्राचीन, व्यापक, पुष्कल और प्रभावशालिनी है।

भाषा के विषय में ऐतिहासिक सत्य यह है कि भाषा धर्मों से

ऊपर है। एक युग विशेष की जो भाषा थी उसे समस्त धर्मावलम्बियों ने अपनाया। वैदिक काल से सूत्रों के युग तक संस्कृत साहित्यिक और धार्मिक भाषा थी। उस समय जितना साहित्य बना वह सब संस्कृत में था। भगवान् बुद्ध और महावीर के समय प्राकृतिक भाषाओं का उदय हुआ। बौद्धों का त्रिपिटक साहित्य पालि में और जैनों का अंग साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में बना। ई० प्रथम शताब्दी के लगभग साहित्यिक क्षेत्र में बौद्धों ने संस्कृत भाषा को पुनः अपना लिया। महाकवि अश्वघोष के समय से बौद्ध साहित्य में संस्कृत भाषा का ही एक मात्र प्रयोग देखने में आता है। पालि के पुराने त्रिपिटक साहित्य का गुप्तकाल में संस्कृत में अनुवाद किया गया। उस समय बौद्धों के जो कई सम्प्रदाय थे, जैसे सर्वास्तिवादी, महासंघिक, सम्मितीय उन सबों ने अपने-अपने लिये बहुत सी नई सामग्री जोड़ कर त्रिपिटक साहित्य का संस्कृत में उलथा कर लिया। इस समय मध्य एशिया से लेकर दक्षिण भारत और द्वीपमय भारत तक संस्कृत राष्ट्रीय भाषा, धार्मिक भाषा, साहित्यिक भाषा और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के पद पर आसीन हुई। संस्कृत भाषा ने इस स्वर्णयुग में राष्ट्र के विचारों में अभूतपूर्व तेज, आत्मविश्वास और साहस की सृष्टि की। इसमें सन्देह है कि संस्कृत भाषा के सार्वदेशिक और सक्षम माध्यम के अभाव में राष्ट्र की कभी ऐसी उन्नति हो सकती जैसी कि गुप्तयुग में हुई। महायान बौद्ध संस्कृत साहित्य में ललित गद्य के उतने ही अच्छे उदाहरण मिलते हैं जितने कालिदास के पद्य में।

जैसा ऊपर संकेत दिया गया है संस्कृत इस युग में न केवल भारत के भीतर अन्तःप्रान्तीय भाषा थी, बल्कि भारत और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के माध्यम की भी वही भाषा थी। चीनी यात्रियों ने इस देश में नालन्दा और अन्य विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन किया। इनमें चीनी यात्री श्युआन् च्याङ् का नाम मुख्य है। भारत

से स्वदेश लौटने पर उसके और नालन्दा के आचार्यों के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ वह संस्कृत में था।[1]

---

(१) उनका चीनी अनुवाद चीनी त्रिपिटक में सुरक्षित बच गया है। इन पत्रों की न केवल भाषा अपितु भाव भी नितान्त भारतीय थे जिसका आभास निम्नलिखित सारांश से ज्ञात होता है।

पत्र

'भगवान् बुद्ध के वज्रासन के समीप (बोधगया में) निर्मित महाबोधि मन्दिर के स्थविर प्रज्ञादेव अपनी विद्वन्मंडली के साथ महा-चीन देश के मोक्षाचार्य (श्युआन् च्याङ का भारतीय नाम) की सेवा में जिन्होंने सूत्र, विनय और अनेक शास्त्रों का गहरा अध्ययन किया है, यह पत्र भेजते हैं और सादर प्रार्थना करते हैं कि वे रोग और कषायों से सदा मुक्त हों। आचार्य (श्युआन् च्याङ) के अनेक मित्र यहाँ हैं, उनमें भदन्त ज्ञानप्रभ विशेषरूप से आपकी कुशल-क्षेम पूंछने में मेरे साथ हैं। उपासक लोग सदा आपको नमस्कार भेजते हैं। आपकी सेवा में एक धौत वस्त्र युगल भी भेज रहे हैं। अपने स्नेह की साक्षी के लिये कि हम आपको भूले नहीं हैं। उपहार के अल्पीयस भाव पर ध्यान न देकर कृपया उसे स्वीकार करें। जिन सूत्रों और शास्त्रग्रन्थों की आपको आवश्यकता हो उनकी सूची भेजने की कृपा करें। हम उनकी प्रतिलिपि करके सेवा में भेज देंगे।'

उत्तर

'महान् थाङ वंशी राजाओं के देश का निवासी भिक्षु श्युआन् च्याङ मध्यदेश में मगध के धर्माचार्य त्रिपिटकाचार्य भदन्त ज्ञानप्रभ की सेवा में नम्रतापूर्वक लिखता है। मुझे लौटे हुए दस वर्ष से अधिक हो चुके। हमारे उभय देशों की सीमाएँ एक दूसरे से बहुत दूर हैं। मुझे आपका कुछ समाचार नहीं मिला, इसलिये मेरी चिन्ता बढ़ रही थी। अब आप सब कुशल से हैं इस समाचार से मुझे जितना हर्ष हुआ लेखनी

जावा के बोरोबुडूर महा स्तूप में बुद्ध की जीवन कथाओं के जो कई सौ उत्कीर्ण शिलापट्ट हैं उनका मूल आधार संस्कृत का 'ललित विस्तर' ग्रन्थ था। नालन्दा विश्वविद्यालय में एक ताम्र पट्ट मिला है जिससे ज्ञात होता है कि जावा सुमात्रा के शैलेन्द्र सम्राट् बालपुत्र देव ने नवीं शताब्दी में यहाँ एक विहार बनवाया था और उसने चातुर्दिश आर्य भिक्षु संघ के उपभोग के लिये पाँच गाँव दान में दिये थे। अनेक विद्यार्थी विदेशों से उस विहार में आकर इस देश की भाषा और साहित्य का अध्ययन करते थे। उड़ीसा के राजा शुभकरदेव ने बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'गंडव्यूह' की निजी पुस्तकालय की प्रति चीन के सम्राट् के पास अपने हस्ताक्षरों सहित भेजी थी। सैकड़ों भारतीय पंडितों ने चीन में जाकर संस्कृत ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। कम्बोज (वर्तमान कंबोडिया), जावा एवं अन्य द्वीपों में संस्कृत के शिलालेख और साहित्य भी प्राप्त हुआ है जो भाषा के क्षेत्र में संस्कृत की सर्व-मान्यता सूचित करता है।

जिस समय बौद्धों ने महायान धर्म के अभ्युदय के साथ संस्कृत को अपनाया उस समय जैन अपने प्राचीन अंग साहित्य की टीकाएँ महाराष्ट्री प्राकृत में लिख रहे थे। इन टीकाओं का अतिविस्तृत साहित्य

उसका वर्णन नहीं कर सकती। सन्देशहर से मुझे पता चला है कि पूज्य आचार्य भद्रशील अब इस लोक में नहीं रहे। शोक है इस दुःखमय भव-सागर की वह नौका डूब गई, मनुष्यों और देवताओं का नेत्र मुंद गया।...मेरी यही अभिलाषा है कि धर्म के पवित्र उपदेशों और सूक्ष्म विचारों की महोर्मियां चार समुद्रों की लहरों की तरह फैलती रहें और पवित्र ज्ञान पांच पर्वतों के समान सदा स्थिर रहे। धर्म का फैला हुआ प्रकाश अभी तक बड़ा मधुर और पूर्ण है। श्रावस्ती के जेतवन में जो धर्म का आविर्भाव हुआ था उससे यह प्रकाश बिल्कुल भिन्न नहीं है। भिक्षु ह्युआन् च्याङ का प्रणाम।'

उपलब्ध हुआ है जिसकी प्रामाणिकता सर्वत्र मान्य है । लगभग गुप्तकाल में जैन विद्वानों ने भी संस्कृत में ग्रन्थ रचना आरम्भ की। सिद्धसेन दिवाकर प्रखर मेधावी और नये विचारों का स्वागत करने वाले विद्वान् थे। उन्होंने संस्कृत में बहुत-सी द्वात्रिंशकाएँ (बत्तीसियाँ) लिखीं। इस समय जैन विद्वान् संस्कृत के क्षेत्र में उतरे और एक सहस्र वर्षों तक प्रत्येक विषय में वे संस्कृत में ग्रन्थ रचना करते रहे। जैनेंद्र और शाकटायन के व्याकरण ग्रन्थ संस्कृत भाषा की शिक्षा के लिये ही हैं जिनका मुख्य आधार पाणिनि व्याकारण था। काव्य, अलंकार, कथा, आख्यायिका, गणित, वास्तुशास्त्र आदि विषयों में जैन विद्वानों ने संस्कृत को बहुमूल्य देन दी है। वस्तुतः भाषा के क्षेत्र में धर्मों का भेद नहीं था।

यद्यपि कहने के लिये इस देश में अनेक भाषाएँ हैं किन्तु आर्य भाषा परिवार में सब का मूल संस्कृत ही थी। संस्कृत के ब्राह्मसर से अनेक प्रान्तीय और प्रादेशिक भाषाओं की धाराएँ निर्गत हुई हैं। भारतीय भाषाओं के इतिहास में सर्वप्रथम वैदिक साहित्य उपलब्ध होता है। वैदिक मंत्रों की भाषा तत्कालीन लोकभाषा के अत्यधिक निकट जान पड़ती है। उसकी शब्दावली, उसके भाव और काव्य के अनेक अभिप्राय एवं उपमा आदि अलंकार भारतीय साहित्य की सबसे पुरानी परम्परा तक हमें ले जाते हैं। वैदिक साहित्य का अन्तर्यामी साहित्यिक सूत्र कालान्तर की भाषा और साहित्य में पिरोया हुआ मिलता है। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के निम्नलिखित भाव लोक मानस के अत्यन्त निकट हैं।

'मैं जो हवा से भरी धोंकनी की तरह फूला-फूला फिरता हूँ, मुझे क्षमा करो। हे महान् प्रभु! मुझे क्षमा करो, कृपा करो। (२)

हे पवित्र और शक्तिशाली प्रभु, अपनी दीनता से मैं उलटे मार्ग पर चलता रहा, मुझे क्षमा करो, कृपा करो। (३)

पानी के बीच में रहने पर भी यह गायक प्यासा है, हे महान् प्रभु, क्षमा करो, कृपा करो' (४)।[1]

इन मंत्रों में कही हुई भक्त की दीनता, फूली हुई धोंकनी की तरह उसका अहंकारभाव और पानी के भीतर रहते हुए अविवेक वश प्यासे रहने का अभिप्राय भारतीय साहित्य में सुपरिचित है[2]। उनकी अवच्छिन्न धारा देशव्यापी साहित्य की विशेषता है। रूप और श्री विषयक काव्य के अभिप्रायों का जन्म भी वैदिक साहित्य में मिलता है।

'जैसे युवक रूपवती युवतियों के साथ मुदित और हर्षित होता है वैसे ही सोम मीठी जलधाराओं के साथ। (५)

'जैसे युवतियाँ कामनाओं से भरी हुई उस युवक को प्रणाम करती हैं जो उनके लिये प्रेम लाता है, ऐसे ही ये दिव्य जलधाराएँ सोम के साथ मिलती हैं[3]। (६)

'इन्द्राणी सुन्दर भुजाओंवाली, सुन्दर अंगुलियोंवाली, सुन्दर केशोंवाली और पृथुजघना है (ऋग्वेद १०।८६।८)। वह कहती है 'कोई स्त्री मुझ सी सुन्दरी नहीं, मेरे जैसा गाढ़ आलिंगन किसी में नहीं और न मेरे समान उमंग से अपना कटिप्रदेश पति के लिये अर्पित करनेवाली

---

(१) यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥२॥
क्रत्व समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥३॥
अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥४॥ (ऋग्वेद ७।८९॥ २-४)

(२) पानी में मीन पियासी
मोहि देखत आवे हाँसी (कबीर)।

(३) याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्नमयः।
(ऋक् १०।३०।५)

कोई है[1]।' स्त्री और पुरुषों के रूप वर्णन के अनेक अभिप्राय प्राचीन वैदिक साहित्य में जन्म लेकर कालान्तर के काव्य साहित्य में विकसित पाए जाते हैं।

अनेक दार्शनिक और धार्मिक विचारों की परम्परा भी वैदिक काल से विकसित होकर कालान्तर के साहित्य में पाई जाती है। ऋग्वेद और अन्य वैदिक साहित्य सच्चे अर्थों में भारतीय विचारधाराओं की प्रथम धात्री हैं। सृष्टि, चैतन्य, प्रकृति, प्राणधारा, विश्वव्यापी ऋत या अखंड सत्यात्मक नियम जिन्हें कालान्तर में धर्म कहा गया इत्यादि विचारों का प्रथम स्रोत वैदिक साहित्य है। वह इसलिये और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसके द्वारा हम भारत के प्रादेशिक साहित्यों में फैले हुए विचार तन्तुओं की एकता को पहचान सकते हैं।

वैदिक भाषा देश की एकता का मूल बीज है। उससे समस्त भारतीय वाङ्मय विकसित और पल्लवित हुआ है। भौतिक जीवन से संबंधित अनेक शब्द वैदिक समय से लोक में चालू हैं। अथर्व वेद के कृषि सूक्त (३।१७) में किसानों द्वारा हल-बैल और जुए से खेत जोत कर बीज बोने और हँसिया से पकी फसल काटने का जो वर्णन है वह लोकजीवन की सचाई और साहित्य की प्राचीनतम परम्परा प्रस्तुत करता है। सीर, युग, बीज, लांगल, सीता, फाल, वाह (बैल), कीनाश (किसान), वरत्रा (बरत या मोटी रस्सी), सुफलाभूमि आदि शब्द जो इस सूक्त में प्रयुक्त हुए हैं अभी तक लोक के कृषि जीवन की निधि हैं। वैदिक काल में संस्कृत भाषा जीवन के सब क्षेत्रों पर छा गई थी। वह विचार और जीवन का एक शक्तिशाली माध्यम बन चुकी थी। उसी की परम्परा में ब्राह्मणकालीन भाषा और सूत्रों की भाषा

---

(१) नमत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी
विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। (ऋक् १०।८६।६)

का विकास हुआ। मध्य एशिया (कम्बोज) से लेकर कलिंग तक विस्तृत भाषा के स्वरूप और शब्द सामग्री के आधार पर पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी की रचना की। पाणिनि व्याकरण लगभग ढाई सहस्र-वर्षों से देश की एकता का महान् जयस्तम्भ रहा है। उसके शिखर पर प्रज्ज्वलित प्रकाश से सब को प्रेरणा और मार्ग दर्शन मिला है। काश्मीर से कन्या कुमारी तक पाणिनि व्याकरण की प्रचार भूमि है। आज भी उसी के द्वारा जनता संस्कृत से अपना परिचय करती है। किसी समय गन्धार से जावा सुमात्रा और श्याम तक पाणिनि व्याकरण भारतीय वाङ्मय की एकता का प्रतीक बन गया था। पाणिनि ने संस्कृत भाषा के अनेक बिखरे हुए स्रोतों को एक में मिलाकर उसे एक प्रबल महाधारा का रूप दिया, जिसने देश भर की भाषा और उप-भाषाओं को अपने जल से सींचा है। भाषा का जो स्वरूप अष्टाध्यायी में स्थिर हो गया था, वह जहाँ तक संस्कृत का सम्बन्ध है अभी तक यथापूर्व है। यद्यपि उसमें अनेक नए शब्दों का जन्म हुआ, नई साहि-त्यिक शैलियों का भी बराबर विकास होता रहा, किन्तु व्याकरण के ठाट में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। एक प्रकार से पाणिनि द्वारा संस्कृत भाषा अमर बना दी गई। जो चाहे पाणिनि के बताए हुए सरल-मार्ग से इस भाषा का अन्तरंग परिचय प्राप्त कर सकता है। देश के विभिन्न मस्तिष्कों को एक दूसरे के साथ समन्वित करने का जो कार्य पाणिनि द्वारा हुआ वैसा किसी अन्य उपाय से सम्भव नहीं था।

इस देश के भाषा विकास में प्रत्येक नया युग अपने पूर्व की साहित्यिक और भाषा परम्पराओं को अपनाकर आगे बढ़ता रहा है। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पाली, अर्धमागधी प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश, भाषा और साहित्य के ये विविध रूप अपने देश में रहे हैं। इन सबमें व्याकरण के बाहरी भेदों की अपेक्षा शब्दों और अर्थों का मौलिक साम्य बहुत अधिक है। वस्तुतः वे एक ही वंशवृक्ष की सन्तति हैं। अपभ्रंश काल (८०० से ११०० तक) के अनन्तर लोकभाषाओं

का जन्म हुआ। उनमें प्रादेशिक भेद अवश्य हैं, किन्तु साहित्य के अभिप्राय और संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं की पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकार सबको एक समान प्राप्त हुआ। कश्मीरी, नेपाली, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, बंगला, उड़िया, हिन्दी ये आर्य परिवार की भारतीय भाषाएँ हैं। इनकी शब्दावली का अधिकांश भाग संस्कृत और प्राकृत पर आश्रित होने के कारण एक दूसरे से बहुत कुछ मिलता है। जैसा निम्नलिखित उदाहरणों से ज्ञात होता है :—

हि० कौड़ा, कौड़ी। पं० कौड़, कौड़ी। ने० कौड़ि। बं० कड़ि। सिं० कोड़। गु० कोडो कोडी। म० कवडी। सं० कपर्दिका।

हि० जागना। कश्मीरी जागुन्। पं० जागणा। ने० जाग्नु। बं० जागा। सि० जागणु। गु० जाग्वुं। म० जाग्णे। सं० जागर्ति, जागरण।

हि० बूढ़ा। कश्मीरी बुडु। पं० बुड्ढ़ा। ने० बुडो। बं० बुड़। सिं० बुड्हों। गु० बूढ़। सं० वृद्ध।

इन उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उच्चारण का भेद होते हुए भी मूल शब्द एक है जिससे प्रादेशिक भाषाओं के नाना रूप विकसित हुएहैं। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त लंका की सिंहली बोली का जो पाली से निकली हुई है हमारी भाषाओं से सीधा संबंध है। इन भाषाओं के साहित्यिक रूप में संस्कृत शब्द की प्रधानता होने से उनके पारस्परिक भेद नगण्य रह जाते हैं। उत्तर भारत के एक प्रान्त में दूसरे किसी प्रान्त की बोली ७० प्रतिशत तक समझी जा सकती है। दक्षिण की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं की साहित्य और शब्दावली की परम्परा पर्याप्त मात्रा में संस्कृत के साथ सम्बन्धित है। आज भारतवर्ष में राष्ट्रीय एकता के सम्पादन के लिये जिस समान भाषा की आवश्यकता है उसकी सामग्री पहले से ही विद्यमान है। प्रादेशिक भाषाओं में जो संस्कृत का अंश है उसके द्वारा एकता की यह नींव हमें प्राप्त होती है। देश में जो भाषाओं के अनेक भेद हैं उन्हें हमारे पूर्वज भी अच्छी तरह पहचानते

थे। वर्णरत्नाकर में आदर्श चारण का परिचय देते हुए लिखा है कि उसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, शौरसेनी और मागधी इन छः भाषाओं का तत्वज्ञ होना चाहिए और साथ ही उसे शकारी, आभीरी, चांडाली, शाबरी, द्राविडी, औत्कली एवं विजातीय इन सात उपभाषाओं का जानकार भी होना चाहिए (पृ० ४४)। किन्तु भाषा उपभाषाओं के ये अनेक भेद जीवन के बहुत ही थोड़े अंश को छू पाते थे। भाषाओं के कारण विचार जगत् के टुकड़े नहीं हुए। भाषाएँ भिन्न थीं किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित विचार तत्व सर्वत्र एक थे। मानसलोक में जिस अध्यात्म तत्व की साधना साहित्य को इष्ट होती है वह देश में सर्वव्यापक और अखंड था। उससे निकले हुए साहित्यिक स्रोत भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बहने लगे, किन्तु उन्हें पोषित करनेवाले विचारों के मेघ जल आपस में मिले हुए थे।

भारत की मौलिक एकता का एक सुन्दर दृष्टान्त उसकी लिपियाँ हैं। न केवल उत्तरी भारत की समस्त आर्य परिवार की भाषाओं का, किंतु दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ी, मलयाली और ग्रन्थ संज्ञक लिपियों का उद्‌गम और विकास भी एक ही मूल ब्राह्मीलिपि से हुआ है। सिंहल, बर्मा, और स्याम देश की लिपियाँ भी मूल ब्राह्मीलिपि के ही विकसित रूप हैं। यह ब्राह्मीलिपि अशोक के समय में (२७२ से २३२ ई० पूर्व तक) प्रायः समस्त देश में एक समान प्रचलित थी। अशोक ने अपने इन लेखों से मानो देश के चारों ओर ब्राह्मीलिपि का एक घेरा सा डाल दिया। उत्तर में देहरादून के कालसी नामक स्थान में यमुना के तट पर सिर उठाए हुए एक बड़े पत्थर के ढोके पर ब्राह्मीलिपि के स्पष्ट अक्षरों में उसके १४ धर्मलेख या धर्मलिपियाँ खुदी हुई हैं। पश्चिमी समुद्र तट पर शूर्पारक (आधुनिक सुपारा) नामक स्थान में भी उसके धर्मलेखों का एक केन्द्र था। दक्षिण में मैसूर के ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, आदि के निकट उसके ब्राह्मी लेखों का एक गुच्छा पाया गया है। पूरब मे कलिंग के धौली और जौगढ़ नामक

स्थानों में अशोक के महत्वपूर्ण शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो उसके जीवन के क्रान्तिकारी परिवर्तन पर प्रकाश डालते हैं। ये लेख सारे संसार के इतिहास में महत्वपूर्ण हैं। इन लेखों ने अशोक को भारतीय सम्राट् के पद से ऊँचा उठा कर विश्व मानवों के हृदय-आसन पर बिठा दिया है। इन लेखों की वाणी नवीनतम मानव की अभिलाषाओं के निकट है। यह शान्ति और प्रेम की वाणी है जो अनन्त करुणा से सनी है। इनकी मूल लिपि ब्राह्मी थी जो इस प्रकार के विश्वोपयोगी लेखों के कारण गौरवान्वित हुई। ब्राह्मीलिपि अत्यन्त सरल स्पष्ट निश्चित और वैज्ञानिक थी। उसमें एक ध्वनि के लिये एक संकेत था। उसमें स्वर व्यंजनों का पार्थक्य, ह्रस्व और दीर्घ स्वरों का भेद, स्वरों की मात्रायें, मिलाकर उच्चरित होनेवाले व्यंजनों को संयुक्त लिखने की व्यवस्था आदि अनेक गुण थे जो संसार की किसी भी पुरानी लिपि में नहीं पाए जाते। ब्राह्मी से ही इस देश में विविध लिपियों का विकास हुआ जिनमें देवनागरी लिपि मुख्य है। इसमें भी ब्राह्मी के सब गुण विद्यमान हैं। प्राचीन संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों में देवनागरी का प्रयोग प्रायः सर्वत्र होता था। संस्कृत के छपे ग्रन्थों की लिपि होने के कारण देवनागरी का प्रचार विद्वानों में न केवल इस देश में बल्कि बाहर भी है। इस समय सर्वसम्मति से देवनागरी राष्ट्रलिपि के रूप में स्थिर हुई है। यह निश्चय देश की प्राचीन परम्पराओं के अनुकूल है और उसे एकता के सूत्र में बाँधने में सहायक होगा। ज्ञान साधन का एक मुख्य माध्यम लिपि है। प्रत्येक प्रान्त का साहित्य भी जिस मात्रा में भविष्य में देवनागरी लिपि द्वारा प्रस्तुत किया जा सकेगा उतना ही वह देश की अधिकाधिक जनता के लिये सुलभ होगा। लिपि की एकता भारतीय भाषाओं को एक दूसरे के और भी निकट खींच सकेगी।

भाषा और लिपि के क्षेत्र में जैसी देशव्यापी मौलिक एकता रही है वैसी ही साहित्य के प्रत्येक विभाग में मिलती है। वैदिक साहित्य

इस देश का सर्व प्राचीन और सर्वोपरि साहित्य है, उसके पठन-पाठन की परम्परा सर्वत्र एकसी थी। वैदिक मन्त्रों के सस्वर पाठ की विधि कश्मीर, मद्रास, महाराष्ट्र और बंगाल में एक जैसी है। मन्त्रों को कंठस्थ रखनेवाले श्रोत्रिय विद्वान सहस्रों वर्षों से प्रयत्नपूर्वक सस्वर पाठ की रक्षा करते आए हैं जिसमें अभी तक एक मात्रा का भी अन्तर नहीं पड़ने दिया गया। धार्मिक ग्रन्थों की इतनी पाठ शुद्धि का आधार विद्वानों का देशव्यापी संगठन और सर्वमान्य नियम थे। प्राचीन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में शब्दों के स्वरों के उच्चारण के जो नियम स्थिर हो गए थे उन्हें देशव्यापी मान्यता प्राप्त थी। श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञ यागादिक कर्मकांड, अनुष्ठान, एवं गृहस्थों में होने वाले षोडश संस्कार जिस प्रकार सब स्थानों में मान्य रहे हैं उससे भी देश की सांस्कृतिक एकता का दृढ़ प्रमाण मिलता है। विभिन्न संस्कारपद्धतियाँ गृह्यसूत्रों के आधार पर रची गईं और उनमें परस्पर अत्यधिक साम्य है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त समय-समय पर ये संस्कार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में होते रहते हैं। उनके द्वारा समस्त लोक एक जैसी रहन-सहन और सामाजिक पद्धति के अनुकूल बनता है। ऐक्यभाव के प्रतिपादन में संस्कारों का अत्यधिक महत्त्व है। जातकर्म, नामकरण, शिक्षा, विवाह और मृतक संस्कार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति के लिये आवश्यक हैं। उनका क्षेत्र समस्त लोक है।

भारत जैसे महान् देश में विचारों की एकता और अनेकता का जैसा अच्छा उदाहरण दार्शनिक साहित्य में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। यहाँ विचारों की पूरी स्वतन्त्रता थी। ईश्वर, लोक, परलोक, आत्मा, जीव, संसार, कर्म, पाप, पुण्य,स्वर्ग, नरक, प्रवृत्ति, निवृत्ति, भाग्य, पुरुषार्थ, ज्ञान, भक्ति, मुक्ति, पुनर्जन्म, अद्वैत और द्वैत आदि के विषय में विचार करने और अपना मत प्रकट करने की पूरी छूट प्रत्येक व्यक्ति को मिली हुई थी। जिस प्रकार सूर्य की किरणों के ताप से जल के प्रत्येक संचय-स्थान से भाप आकाश में उठकर मेघरूप में संचित होती है और पुनः

लोक में उसकी वृष्टि होती है, इसी प्रकार अनेक चिन्तनशील मस्तिष्क से विचारों के मेघ उठे और लोक में निर्वाध बरसते रहे। उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य, योग, वैशैषिक न्याय, मीमांसा, बौद्ध और जैन दर्शनों का पठन-पाठन और प्रभाव सारे देश में रहा है। वे एक स्थान या प्रान्त तक सीमित नहीं रहे। बादरायण व्यास द्वारा रचे हुए वेदान्त सूत्रों पर शंकर, रामानुज आदि सुदूर दक्षिण के आचार्यों ने भाष्यों की रचना की। वस्तुतः ब्रह्मसूत्र और उनके भाष्य एक ही देशव्यापी अखंड ज्ञान साधना के अंग हैं, वे एक ही ज्ञानाधिदेवता के चरणों में समर्पित पुष्प हैं जिनका सौरभ देश और काल से ऊपर उठ कर सर्वत्र व्याप्त हो गया। भारत का दार्शनिक ज्ञान कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैली हुई भारतीय प्रजाओं में ओतप्रोत समझना चाहिए। विभिन्न दर्शनों के महनीय ग्रन्थ देश की मौलिक एकता के उज्ज्वल जयस्तम्भ हैं। काश्मीर, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, मद्रास, केरल सब जगह के आचार्य और विद्वान् अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार मूल ग्रन्थों पर भाष्य और टीकाएँ रचने के लिये उत्सुक रहते थे। मीमांसा दर्शन पर शबर स्वामिन्, न्याय पर वात्स्यायन, वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद, योग पर व्यास, सांख्य पर ईश्वर कृष्ण के भाष्य और कारिकाएँ सारे देश में प्रामाणिक समझी जाती हैं और पठन-पाठन में प्रचलित हैं। प्रायः प्रत्येक दर्शन की परम्परा उस उत्तरोत्तर बढ़ती हुई नदीधारा की तरह प्रवृत्त होती है जो अपने स्रोत से चल कर अनेक शाखा और सहायक नदियों का जल ग्रहण करती हुई लोक कल्याण के लिये प्रवृत्त होती है। दर्शन की चिन्तन धाराओं के तटों पर भिन्न-भिन्न देशकालों के अनेक विद्वान योग्य तीर्थों का निर्माण करते रहे जहाँ उन विचारों का अवगाहन जनता के लिये सुलभ था। उदाहरण के लिये, ब्रह्मवाद के प्रतिपादक उपनिषद् सर्वमान्य हुए। इनका मथा हुआ सार वेदान्त सूत्रों में निबद्ध हुआ जिन्हें ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं। बादरायण व्यास के रचे

हुए ये सूत्र ज्ञान के आकाश में इस प्रकार ऊँचे उठे जैसे पर्वतों में हिमालय। इन पर शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य जैसे सूक्ष्मदर्शी विद्वानों ने देश के विभिन्न भागों से उठकर अपने भाष्य रचे और पुनः प्रत्येक के विचारों की शाखा प्रशाखाएँ प्रचलित हुईं। शंकर के शारीरक भाष्य पर आनन्दगिरि (८२५ ई०) ने न्याय निर्णय और वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) ने भामती नामक टीकाएं लिखीं। भामती पर अमलानन्द (१२५०) ने कल्पतरु और उस पर अप्पयदीक्षित (१५५० ई०) ने परिमल टीका का निर्माण किया। भाष्य, टीका, प्रटीका, टिप्पणी, दीपिका, अर्थप्रकाशिका और वृत्तियों का यह जाल कालक्रम से बढ़ता जाता था और इनका ताना-बाना राष्ट्र के ऊँचे ज्ञानस्तूप को श्रद्धा से अर्पित देव-दूष्य[1] की तरह चारों ओर से ढक लेता था।

चार्वाक दर्शन, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, रामानुज दर्शन, पूर्णप्रज्ञ दर्शन (आनन्दतीर्थकृत, ११७० ई०) लकुलीश पाशुपत दर्शन, शैव दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, रसेश्वर दर्शन, वैशेषिक दर्शन, नैयायिक दर्शन, जैमिनि दर्शन, पाणिनि दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन और शांकर दर्शन इस प्रकार भारतीय दर्शन की प्रमुख धाराएँ मध्यकाल में देश के एक कोने से दूसरे कोने तक विद्वानों के विचार क्षेत्र का विषय बनी हुई थीं। भारतवर्ष की पद्धति के अनुसार दर्शन केवल कूतूहल के लिये नहीं था, किन्तु उससे जीवन का मार्ग निर्धारित होता था। राजाओं के सिंहासन और दंडबल से कहीं अधिक दार्शनिक आचार्य जनता के जीवन पर प्रभाव डालते थे और लोगों में आत्मोन्नति की प्रेरणा भरते थे। उनके देशव्यापी संगठन राज्यों की सीमाओं से ऊपर रहते हुए भिन्न प्रान्तवासी लोगों को एक दूसरे से मिलाते थे। समय-समय पर

---

(१) वह वस्त्र जो प्राचीनकाल में महाप्रमाण देवमूर्तियों या स्तूपों को आच्छादित करने के लिये चढ़ाया जाता था।

तेजस्वी आचार्य अपने विचारों की विद्युत् देश भर में फैलाते रहे। उसके प्रवाह की ऊर्मियां लोकजीवन में नया सत्य बन कर प्रविष्ट होतीं और देश एवं काल में अपना अमिट प्रभाव डालती रहती थीं। भारतीय धार्मिक और दार्शनिक जगत् में विचारों की सहिष्णुता, सहज प्रचार और पारस्परिक आदान-प्रदान का जो विलक्षण प्रयोग हुआ वह इस देश के इतिहास का महत्वपूर्ण अंग है। विचारों की इस अग्नि ने जिसे अनेक तपःशील आचार्यों और विद्वानों ने समय-समय पर प्रज्वलित किया स्थूल भेद भावों को मिटाने में जो कार्य किया वह दूसरी तरह सम्भव न था। इन प्रयत्नों द्वारा जनता में स्थूल विविधताओं से ऊपर मौलिक एकता का संतत प्रचार होता रहा।

इस देश में न केवल धार्मिक साहित्य ही उसकी एकता का बड़ा कारण है, किन्तु लौकिक साहित्य की भी देशव्यापी एक अखंड सत्ता रही है। वेद, उपनिषद् दर्शन और पुराणों की भांति देश का काव्य साहित्य, अलंकार, कथा, आख्यायिकाएँ, छन्द, कोश, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, वास्तुशास्त्र, संगीतशास्त्र, आयुर्वेद, व्याकरण, ज्योतिष आदि साहित्य भी उतना ही व्यापक रहा है जितनी कि भारतवर्ष की चतुरंत सीमाएं। कालिदास के काव्य समस्त देश का गौरव बढ़ानेवाले हैं और डेढ़ सहस्र वर्षों से सब भागों के विद्वान् उन्हें अपने रसानुभवी मन की निकटतम वस्तु मानते रहे हैं। रघुवंश के चौथे सर्ग में वंक्षु नदी से ताम्रपर्णी नदी तक एवं अपरान्त (कोंकण) से कामरूप तक के जिस भू-प्रदेश की एकता का चित्र महाकवि ने प्रस्तुत किया था उसके अमिट अंक भारतीय महाप्रजाओं के मन में सदा के लिए बस गए। जहाँ रघुवंश का अध्ययन होता है वहीं कवि के उन शब्दों की व्यंजना मूर्त हो उठती है। कालिदास के मन में भारतीय भूगोल की यह इकाई इतनी उभरी हुई थी कि वे उसकी ओर बार-बार ध्यान खींचते हुए नहीं अघाते। रघु की दिग्विजय के वर्णन में (रघुवंश, सर्ग ४) पूर्वसागर की ओर बहती हुई गंगा, बंग, गंगा के

समुद्र में मिलनेवाले स्रोत, तालवृक्षों से भरा हुआ महोदधि का किनारा, उत्कल, कलिंग, मलय, दर्दुर पर्वत (वर्तमानदोद्दाबेत्ता चोटी), सह्याद्रि, अपरान्त, पश्चिमी समुद्र, त्रिकूट पर्वत, पारसीक देश के साथ टकराते हुए भारतीय भाग, सिंधु, कम्बोज, हिमालय, लौहित्य और कामरूप, इस प्रकार स्थान नामों का उल्लेख करके कवि ने देश की बाहरी सीमाओं की परिक्रमा की है। पश्चिम में वंक्षु और कम्बोज से लेकर पूर्व में लौहित्य नद और प्राग्ज्योतिष तक का भारतवर्ष कालिदास को इष्ट और प्रिय है। इन्दुमती के स्वयंवर में एकत्र राजाओं के रूप में कवि ने देश के मध्य मंडलवर्ती भाग की सुदृढ़ एकता की कल्पना की है। यह ऐक्य भाव रक्त सम्बन्ध के द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिसमें भिन्न भिन्न प्रदेशों के राजा और राजकुमार अपने आप को विदर्भ देश की राजकुमारी के साथ विवाह सम्बन्ध में बाँधने की इच्छा से उपस्थित हुए थे। मगध,अंग (भागलपुर, चम्पा), अवन्ती, अनूपदेश (नर्मदा के किनारे का प्रदेश जिसकी राजधानी माहिष्मती थी), शूरसेन (मथुरा), कलिंग, दक्षिण के पांड्य और उत्तर कोसल (अयोध्या) जनपदों के अत्यन्त ज्वलन्त वर्णन द्वारा महाकवि ने अपने हृदय के उदार और प्रफुल्लित भाव मातृभूमि के चरणों में अर्पित किये हैं। भूमि की समग्रता की अमिट छाप इस वर्णन में उभरी हुई दिखाई पड़ती है।

देश की एकता के विषय में कालिदास की तीसरी कल्पना राम की पुष्पक यात्रा है। सेतुबन्ध से अयोध्या तक निरीक्षण करती हुई उनकी वेगवती दृष्टि बाण की तरह दक्षिण और उत्तर दोनों का भूमापन कर लेती है। यह कल्पना आज की सी जान पड़ती है। ऊँचे शिखर, घने वन खंड, फैली हुई नदियों का जाल, बसे हुए जनपद, झरनों से भरे जाते हुए सरोवर, नदियों के संगम एव इस अन्तराल में भरे हुए वृक्षलता एवं पशु-पक्षियों का परिचय देते हुए कवि ने भारतभूमि का अत्यन्त तेजस्वी दर्शन प्रस्तुत किया है जो आकाश

यात्रा में आज भी सत्य है। मेघदूत में रामगिरि से कैलाश तक की मेघ यात्रा उस अखंड वृष्टि संस्थान का साहित्यिक वर्णन है जिसका प्रकृति ने इस देश में सदा के लिये विधान किया है। गुप्तकाल में देश के विभिन्न भू-भाग एक दूसरे के प्रति नई उमंग से आकृष्ट हुए, उनका पारस्परिक परिचय गाढ़ा हुआ, साहित्य और संस्कृति के नए स्रोत चारों ओर से उमड़ कर आपस में मिलने लगे, एवं भाषा, साहित्य और कला की देशव्यापी एकता इस युग में जीवन का प्रबल सत्य बन गई। कालिदास के साहित्य में इस वर्णन की जो चोखी झाँकी मिलती है वह अन्य कवियों के लिये भी आदर्श बन गई। समग्र देश की भौगोलिकपृष्ठ भूमि पर बने हुए चित्र बाद के काव्यों में बढ़ने लगे। मेघदूत की शैली पर और बहुत से दूत काव्यों की रचना हुई जिनमें दूरस्थित प्रान्तों के घनिष्ठ सम्बन्धों के चित्र खींचे गए हैं।

काव्य के लक्षण, अलंकार, वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि भाषा की शैलियाँ इनकी मान्यता किसी एक स्थान में सीमित न होकर देश-व्यापी साहित्य के लिये थी। दंडी ने कहा है कि महाकाव्य में नगर, समुद्र, पर्वत, चन्द्रोदय, सूर्योदय, षड्ऋतु, उद्यान क्रीड़ा, जलक्रीड़ा, मधु पान, पुत्रजन्म, विवाह, नायक-नायिका का संयोग-वियोग, युद्ध, आदि का वर्णन होना चाहिए। काव्य के ये लक्षण सर्वत्र मान्य ठहराए गए और अनेक भारतीय काव्यों का स्वरूप इसी ठाट पर खड़ा किया गया। अश्वघोष ने बुद्धचरित काव्य लिख कर चरित काव्यों की प्रथा डाली। रविषेण का पउमचर्य (पद्मचरित्र), उत्तर रामचरित, महावीर चरित, हरचरित, नैषध चरित, जसोहर चरित (अपभ्रंश यशोधर चरिउ), करकंड चरिउ, णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित), पार्श्वनाथ चरित आदि सैकड़ों चरित काव्यों की परम्परा गोस्वामी जी के रामचरित मानस तक चली आती है। जैन साहित्य में तो प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश में सैकड़ों ही चरित काव्य लिखे गए। काव्य रचना की शैलियाँ और काव्य के बाह्य रूप प्रान्त विशेष तक

सीमित न रह कर देश भर में व्याप्त हो जाते थे। उदाहरण के लिये उत्तरभारत में सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों और तुलसीदास जी ने विशिष्ट पद साहित्य की रचना की। कन्नड़ साहित्य में भी वैष्णव भक्तों के रचे हुए अनेक पद हैं। उत्तरी भारत की तरह इन भक्तों के नाम भी दासान्त थे जैसे पुरन्दर दास और कनकदास; अतएव इनका साहित्य 'दासर पदगल' (दासों की पदावली) इस नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत में भी वैष्णव और शिवभक्तों ने पद साहित्य की रचना की थी।

भारतवर्ष का कहानी साहित्य भी देश की एकता का दीर्घकालीन प्रमाण प्रस्तुत करता है। जातक संग्रह की लगभग साढ़े पाँच सौ कथाएँ किसी समय लोक-कहानियों के रूप में प्रचलित थीं। उनमें से अनेक कहानियाँ आज भी जनपदों की बोलियों में सुरक्षित हैं। उदाहरण के लिये पाली की नामसिद्धि जातक (संख्या ९७) की कहानी बुंदेलखंडी भाषा में इस प्रकार मिलती है।

एक जनी के घरवारे को नाव हतो ठनठन राय। बाकों जौ नाव बुरौ लगत तौ। नाव बदलबे के लाने बाने कौनउ अच्छौ नाव ढूंढ़ै चाओ। तब वा ढूंढ़न कौ निकरी ।

एक जनो लकरियन को बोझ लए जा रऔ तौ। बाको नाव हतो धनधनराय। एक जनो मर गऔ तौ और बाकी अरथी जा रई ती, बाको नाव हतो अमर।

लुगाई ने जौ सब देख सुनकै मन में सोची कै नाव सौ कऊँ आवत जात नई आ और जा कई।

लकरी बेचत लाखन देखे,
घास खोदतन धन धनराय।
अमर हते ते मरतन देखे
तुमई भले मेरे ठन ठन राय।

पाली में यह गाथा इस प्रकार है—

जीवकंच मतं दिस्वा
धन पालिच दुग्गतं।
पन्थकं च वने मूढं,
पापको पुनरागतो ॥

अर्थात् पापक नाम का एक व्यक्ति अच्छे नाम की खोज में घर से निकला। पर मार्ग में जीवक नामधारी व्यक्ति को उसने मरा हुआ देखा। धनपाली नाम की दरिद्र दासी को कमा कर न लाने के कारण पिटते देखा। पन्थक नाम के व्यक्ति को वन में रास्ता भूलकर भटकते देखा। यह देख कर पापक फिर घर लौट आया[1]।

इसी प्रकार रोहिणीजातक (संख्या ४५) का यह बुन्देलखंडी रूप मिलता है :

एक लुहार हतो। बाने एक मजूर घन घालबे को राखौ औ बाने बासें कई कै जितै हम हाथ से बताउत जायं उतइ घन घालत जाय। बाने ऐसो ई करौ। एक बेर लुहार के मूंड में कुकौरू लगी। कुकाबे को जैसइ बाने मूड़ी पै हाथ धरौ तैसई बाने उतई धमाक से घन दै मारौ। लुहार बेचारो होई को होई ढेर होगौ।

देश के अनेक जनपदों में इन कहानियों का जाल पूरा हुआ मिलेगा जो लोक-साहित्य की खोज का विषय है। इस देश में कहानियों के तीन बड़े स्रोत थे बृहत्कथा, रामायण और महाभारत। मूल बृहत्कथा पैशाची भाषा में थी। उसकी कहानियां संस्कृत भाषा और प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से देश में फैल गईं। बुद्ध स्वामिन् का बृहत्कथा श्लोक संग्रह, क्षेमेन्द्र की वृहत्कथा मंजरी उसी के रूप हैं। जैन साहित्य का वसुदेव-

---

(१) बम्बई संग्रहालय के अध्यक्ष श्री रणछोड़लाल ज्ञानी से लोक में प्रचलित गाथा का यह रूप मुझे सुनने को मिला :

लक्ष्मी तो कंडे चुने, भीख मंगे धनपाल।
अमरसिंह तो मर गए, भले विचारे ठनठनपाल ॥

हिंडी ग्रन्थ जिसमें वसुदेव के देश देश में हिंडन या घूमने और वहां राजकन्याओं से विवाह करने की कहानियाँ हैं मूल बृहत्कथा पर ही आश्रित थी। और भी कथासरित्सागर, वेतालपंच विंशतिका आदि के द्वारा वे प्राचीन कथाएं नए नए रूपों में देश में सर्वत्र फैल गईं। आज लोक साहित्य की छान बीन करने से वे पहचानी जा सकेंगी। उदाहरण के लिये जैन कवि धनपाल (दसवीं शती) द्वारा अपभ्रंश भाषा में लिखी हुई 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा) नामक कहानी की वस्तु कथा 'ब्रज की जैसी करनी वैसी भरनी' नामक ग्रामीण कहानी में ज्यों की त्यों मिलती है। कहानी का मूल ठाट इस प्रकार है :

एक सेठ की दो स्त्रियों से बड़ा पुत्र साधु और छोटा दुष्ट स्वभाव का हुआ। वे दोनों व्यापार के लिये किसी द्वीप में गए। छोटा भाई बड़े को वहीं छोड़कर जहाज पर सामान लाद कर चल दिया। बड़े के साथ वहां की राजकुमारी ने विवाह कर लिया। साधन सम्पन्न होकर वे दोनों किनारे पर आए और जहाज की बाट देखने लगे। संयोग से छोटा भाई अपना मालमता खोकर फिर वहाँ आ निकला और और उसने उन्हें जहाज पर आने का निमन्त्रण दिया। राजकुमारी जहाज पर चली गई पर उसके पति के आने से पूर्व ही छोटे भाई ने जहाज खुलवा दिया और देश लौटकर राजकुमारी से प्रेम और विवाह का प्रस्ताव किया। कुछ दिन पीछे बड़ा भाई भी वापिस आया और उसने राजा से सब हाल कहा। राजा ने दुष्ट को उसके किए का दंड दिया और साधु भाई को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

नेक और बद की यह कहानी जिसे धनपाल ने साहित्यिक चोला पहनाया ब्रज की तरह और भी जनपदों में फैली हुई मिलेगी। इसी प्रकार 'सदयबच्छ सावलिंगा' की कहानी पंजाब से लेकर राजस्थान, बुन्देल-खंड तक गाँव-गाँव में कही-सुनी जाती है। अपभ्रंश कवि अब्दुल रहमानने अपने 'संदेश रासक' (चौदहवीं शती) में और जायसी ने पद्मावत में इस कहानी का उल्लेख किया है जो किसी समय अत्यन्त लोकप्रिय

रही होगी। चन्दराजा की कहानी ब्रजमंडल से लेकर मारवाड़ गुजरात कच्छ काठियावाड़ तक प्रसिद्ध है[१]। वस्तुतः भारतीय कहानी साहित्य एक है। धार्मिक रूपान्तरों के होते हुए भी कहानियों की शैली और उनके अभिप्राय समस्त देश में एक जैसे हैं। पंचतन्त्र भारतीय कथा साहित्य का सिरमौर ग्रन्थ है। उसकी कहानियाँ पहलवी, अरबी, लैटिन आदि भाषाओं में अनूदित होकर सारे यूरोप और एशिया में छा गईं। भारतीय कहानियों के कुछ अभिप्राय मध्यकालीन नाविकों के द्वारा जो अपने जहाजों पर तारों भरी रातों में कहानियाँ कहते और सुनते चलते थे विदेशों में पहुँच गए। दक्षिण भारत से चलकर अरब पहुँची हुई किसी वीणा की आत्मकथा अलिफ लैला की कहानियों में पाई जाती हैं और वही कश्मीरी भाषा के 'नय हँज कथ' लोक-गीत में आज तक सुरक्षित है[२]। लोक कहानियों के इस विस्तार और प्रसार में देश के सभी भागों ने हिस्सा बटाया। बौद्धों के अवदान संग्रह और जैनों के कथाकोश भारतीय कहानी साहित्य के अखूट भंडार हैं जिन्होंने लोक मानस को तृप्त किया।

नीतिग्रन्थ और सुभाषित साहित्य ने भी हमारी भाषाओं को एकता के सूत्र में पिरोया है। महाभारत की विदुर नीति इस देश के बुद्धि पूर्वक व्यवहारोपयोगी ज्ञान का मथा हुआ मक्खन है। उद्योगपर्व के एक कोने में लगभग ५५० श्लोकों का यह विलक्षण नीति संग्रह भारतीय साहित्य का जगमगाता हुआ हीरा है जिसके अनेक घाट और पहल व्यावहारिक बुद्धि या प्रज्ञा की किरणों के स्रोत हैं। उसी परम्परा

---

(१) ब्रज भारती...वर्ष ४ सं० ४, ५, ६। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२ पृ० ११ अगरचन्द नाहटा का 'लोक कथा सम्बन्धी जैन साहित्य' शीर्षक लेख।

(२) स्टाइन और ग्रियर्सन कृत काश्मीरी कहानियों का 'हातिम्स टेल्स' नामक संग्रह।

को आगे बढ़ाने वाले चाणक्य नीति श्लोक, भर्तृहरि के तीन शतक, एवं हजारों सुभाषित वाक्य हैं। दक्षिण भारत का मान्य ग्रन्थ 'तिरुक्कुरल' भी उसी शैली पर है। लोकभाषाओं ने भी इस शैली को आगे बढ़ाया। तुलसी, कबीर, रहीम और वृन्द के दोहे और गिरधर की कुण्डलियां व्यावहारिक बुद्धि की व्याख्या नए नए ढंग से प्रस्तुत करती हुई प्राचीन सम्मत नीति साहित्य की परम्परा को ही हमारे समीप तक पहुँचाती हैं।

इस देश का आयुर्वेद शास्त्र चिकित्सा विद्या का राष्ट्रीय शास्त्र है। उसकी प्रामाणिकता, प्रयोग और प्रचार देश भर में था। आयुष्य और प्राण के संवर्धन और स्वास्थ्य-सम्पादन की कितनी ही विधियों का आविष्कार इस देश में हुआ। अश्विनीकुमारों को देवताओं का वैद्य कहा गया है। वैदिक परिभाषा के अनुसार प्राण और अपान की संज्ञा अश्विनीकुमार है। प्राणायाम और योग के द्वारा स्वास्थ्य की प्राप्ति एवं क्षीण हुए प्राण का पुनः संपादन दैवी चिकित्सा है। अष्टांग योग की विधि देश और काल की सीमाओं से ऊपर समस्त देश में फैली हुई थी। भारतीय अध्यात्म क्षेत्र की ऊँची विभूति योग विद्या है इसके द्वारा प्राण को तपा कर पवित्र करने, मन को शान्त और संयत बनाने, बुद्धि को निर्मल सूक्ष्म करने, एवं आत्मा के साक्षात्कार करने की युक्ति का पूरा ज्ञान प्रतिपादित किया जाता था। योग विद्या भारतीय जीवन विधि की ऐसी विशेषता है जिसके द्वारा संसार की अन्य संस्कृतियों से वह अलग पहचानी जाती है। योग के अतिरिक्त भौतिक शरीर के स्वाथ्य सम्पादन के लिये जिस आयुर्वेद शास्त्र का यहाँ विकास हुआ उसमें चरक और सुश्रुत का स्थान सर्वोपरि है। ये दो ग्रन्थ भारतीय आयुर्वेद के जयस्तम्भ हैं, इन्हीं का आश्रय लेकर अन्य आयुर्वेदीय ग्रन्थों का निर्माण होता रहा, किन्तु रोगों के नामकरण, निदान, काष्ठ-ओषधि एवं वृक्ष वनस्पतियों का नामकरण और उनके गुण तथा विशेषताओं की छान-बीन, रोगों की चिकित्सा एवं औषध निर्माण का जो

मूलभूत अध्याय चरक ने आरम्भ किया वही सर्वत्र प्रमाणित माना गया। अपने शास्त्र का आरम्भ करते हुए चरक ने सर्वप्रथम दस दस ओष-धियों के पचास वर्गों में ५०० बूटियों के गुण दोषों का विवे-चन किया है जिसे भारतीय ओषधि शास्त्र की मूलभित्ति कहा जा सकता है। चरक संहिता की सुग्रथित शब्द योजना सूत्र शैली के समीप है और उसकी प्राचीनता को प्रकट करती है। गुप्तयुग में उस काल की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये आचार्य वाग्भट्ट ने बहुत कुछ चरक का आश्रय लेते हुए 'अष्टांग हृदय' नामक ग्रन्थ की रचना की। कहा जाता है कि आचार्य नागार्जुन ने रस शास्त्र का आविष्कार किया, उनकी यह देन शीघ्र ही देशव्यापी हो गई। मध्यकाल में रस विद्या एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में सर्वत्र मान्य हो गई थी। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में 'रसेन्द्रदर्शन' का भी उल्लेख किया है। इस दर्शन के माननेवालों का विश्वास था कि पारद के सुविहित प्रयोग से इस शरीर को अमर बनाया जा सकता है। इस प्रकार काष्ठौषधि,' शल्य और रस इन तीन धाराओं में भारतीय चिकित्साशास्त्र का देशव्यापी विकास हुआ। आज भी उसी परम्परा को अपनाए हुए काष्ठौषधियाँ और रसों के द्वारा भारतीय चिकित्सा-पद्धति गुजरात, बंगाल, मद्रास आदि प्रान्तों में अपने पैरों पर खड़ी है।

अध्याय ९

राजनीति के क्षेत्र में देश की एकता

भौगोलिक एकता राष्ट्रीय एकता का मूल आधार है और राष्ट्रीय एकता उसका आवश्यक फल है। पुराणों के 'भुवनकोश' नामक अध्यायों में सप्त द्वीपी भूगोल का वर्णन मिलता है। मेरु को केन्द्र में मानकर उसके उत्तर में उत्तर कुरु, पूर्व में भद्राश्व, दक्षिण में भारतवर्ष और पश्चिम में केतुमाल, इन चार वर्षों की कल्पना की गई है। इन चारों का सम्मिलित नाम जम्बूद्वीप था। अर्वाचीन भूगोल के अनुसार मेरु पामीर के ऊंचे पठार की संज्ञा है, जो पृथ्वी रूपी कमल के केन्द्र में कर्णिका के समान स्थित है[1]। उत्तर कुरु साइबेरिया और भद्राश्व चीन

(१) जम्बुद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्य स्थितः।
तस्यापि मेरुर्मैत्रेय मध्ये कनकपर्वतः॥
भू पद्मस्यास्य शैलोऽसौ कर्णिकाकार संस्थितः॥ विष्णुपुराण
२-२-६,१०

है। केतुमाल पामीर के पश्चिम में फैला हुआ वह प्रदेश है जिसमें चक्षु-वक्षु या वर्त्तमान औक्सस नदी बहती है। मेरु के दक्षिण की ओर स्थित हिमाचल और दक्षिणी समुद्र के बीच का भू-प्रदेश पुराणों के अनुसार एक भौगोलिक इकाई मानी जाती थी। उसी की संज्ञा भारत-वर्ष थी। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, भुवनकोश के लेखक भारत वर्ष की उत्तरी और दक्षिणी सीमाओं के विषय में निश्चित और स्पष्ट उल्लेख करते हैं। उत्तर में जहाँ तक गंगा के उत्तरी स्रोत या शाखा-नदियाँ हैं और दक्षिण में समुद्र-तट पर जहाँ कन्याकुमारी है वहाँ तक भारत की सीमाएं हैं। इसके पूर्व की सीमा पर किरात जाति के लोग बसे थे, जिन्हें आजकल की भाषा में मौन-ख्मेर कहा जाता है। भारत के पश्चिम में यवन अर्थात यूनानी बसे हुए थे[1]। यवनों से यहाँ तात्पर्य बाल्हीक (आधुनिक बल्ख, प्राचीन बैक्ट्रिया) के यूनानी राजाओं से है जिन्होंने तीसरी शती ई० पू० के मध्य भाग में मौर्य साम्राज्य के निर्बल होने पर यवन राज्य की वहाँ नींव डाली थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के भौगोलिक विस्तार की यह कल्पना शुंग-काल से पूर्व ही स्थिर हो चुकी थी।

पाली साहित्य के 'दीघनिकाय' ग्रन्थ में भारत की भौगोलिक और राजनैतिक एकता का बहुत ही सुन्दर उल्लेख मिलता है—

'तो कौन है जो उत्तर में आयताकार और दक्षिण में शकट-मुख के समान संकीर्ण इस महा-पृथिवी को सात बराबर भागों में बाँट सकता

---

(१) आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगा प्रभवाच्च वै।
पूर्वे किरता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृताः।
आयतस्तु कुमारीतो गंगायाःप्रवहावधिः।

वायु० ४५।८१-८२

भारतवर्ष की यह भौगोलिक परिभाषा मत्स्यपुराण में भी दी हुई है। ११४-१०

? महा-गोविन्द को छोड़कर भला और दूसरा कौन ऐसा करने में समर्थ है ? कलिंग में दन्तपुर, अश्मक में पोतन, अवन्ति में माहिष्मती, सौवीर में रोरुक, विदेह में मिथिला, अंग में चम्पा और काशी में वाराणसी इन्हें महा गोविन्द ने बसाया[१] ।'

इस उल्लेख में कई बातें महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ समस्त भारतवर्ष के लिये महा पृथिवी शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राचीन भारतवर्ष की राजनैतिक परिभाषा में किसी राजा के अपने जनपद के राज्य-विस्तार को पृथिवी कहते थे, जिसके कारण राजा पार्थिव कहलाता था। एक-एक जनपद का स्वामी राजा वहां का पार्थिव होता था। किंतु एक जनपद की सीमा से आगे बढ़कर समुद्र पर्यन्त पृथिवी के लिये महापृथिवी शब्द का प्रयोग होने लगा था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में महापृथिवी के लिये ही सर्वभूमि संज्ञा का प्रयोग हुआ है। सर्वभूमि के राजा को सार्वभौम कहते थे[२]। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२०-१-१) के अनुसार सार्वभौम राजा को ही अश्वमेघ करने का अधिकार था। जो सार्वभौम होता था वही चक्रवर्ती कहलाता था। महाभारत

---

(१) को नु खो भो पहोति इमं महा पठविं उत्तरेन आयतं दक्खिणेन
सकटमुखं सत्तधा समं सुविभत्तं विभजितुं ति।
तत्र सुदं मज्झे रेणुस्स रञ्जो जनपदो होति।
दन्तपुरं कलिंगानं अस्सकानञ्च पोतनं।
माहिस्सती अवन्तीनं सोवीरानञ्च रोरुकं।
मिथिला च विदेहानं चम्पा अङ्गेसु मापिता।
वाराणसी च कासीन एते गोविन्द मापिता ति॥

(दीघनिकाय महागोविन्दसुत्त)

(२) सर्वभूमि पृथिवीभ्यामणञौ। ५।१।४१
तस्येश्वरः ५।१।४२
सर्व भूमेरीश्वरः सार्वभौमः। पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः।

के अनुसार दौःषन्ति भरत अश्वमेधों के करने से सार्वभौम चक्रवर्त्ती हुआ।

दीघनिकाय में दूसरा महत्त्वपूर्ण उल्लेख महा पृथिवी या भारत-वर्ष की भौतिक आकृति के संबंध में है। अब तक इसके तीन प्रकार मिले हैं, कूर्म संस्थान, कार्मुक संस्थान और शकटमुख संस्थान। वराह मिहिर ने बृहत्संहिता में भारतवर्ष के संस्थान (अं० कनफ्युगरेशन) को कूर्म की आकृतिवाला कहा है। उस कूर्म संस्थान के नौ भेद किये हैं, अर्थात् (१) मध्यभाग, (२) पूर्व दिशा में फैला हुआ मुख, (३) दक्षिण पूर्व दिशा में दाहिना पैर, (४) दाहिनी कुक्षि, (५) दक्षिण पश्चिम का पिछला पैर, (६) पुच्छ या पुट्ठों का भाग, (७) उत्तर पश्चिम का उपरला पैर, (८) बाँई ओर की उपरली कुक्षि और (९) पूर्व-उत्तर दिशा का अगला पैर। इस कूर्म-संस्थान के प्रत्येक भाग में जो जनपद या देश हैं उनके नाम भी अलग-अलग गिनाए गए हैं।

भारतवर्ष के संस्थान की दूसरी कल्पना पुराणों के 'भुवनकोश' नामक अध्यायों में मिलती है जहाँ इस भूमि को कार्मुक या धनुषाकृति कहा गया है। दक्षिण का घूमा हुआ भाग जो समुद्र के भीतर घुसा हुआ है वह धनुष का मुड़ा हुआ डंडा है। उत्तर का हिमालय उस डंडे के ऊपर खिंची हुई डोरी है जिसकी तान से डंडे का पृष्ठ भाग मानो झुक गया है।

कूर्म संस्थान और धनुषाकृति संस्थान, इन दोनों कल्पनाओं से भी अधिक प्रत्यक्ष दीघनिकाय का उल्लेख है, जिसमें भारत के उत्तरी मैदान और पर्वतों के मिले हुए भाग को आयताकार कहा गया है। इसके अग्रभाग में छकड़े के लम्बे और संकीर्ण मुख की भाँति दक्षिण भारत का भू-भाग निकला हुआ है। देश के लिये शकटमुखी संस्थान की यह कल्पना इतनी प्रत्यक्ष और सजीव है जैसे किसी अर्वाचीन मान-चित्र में भारतवर्ष की आकृति को देखकर कोई उसका वर्णन कर रहा हो।

भारत भूमि की इस प्रत्यक्ष सिद्ध भौगोलिक एकता को आर्थिक, धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो समर्थन प्राप्त हुआ और उसकी जैसी पूर्ति हुई उसका वर्णन पहले अध्यायों में हो चुका है। राजनैतिक क्षेत्र में भी इस मौलिक एकता ने आदर्श के रूप में सदा लोगों को प्रेरित और आन्दोलित किया। यह एक तथ्य है कि हमारी यह भूमि प्राकृतिक सीमाओं के विभाग से अनेक जनपदों में विभक्त थी। इस प्रकार के लगभग २०० जनपदों की सूची पुराणों के भुवनकोश नामक अध्यायों में प्राप्त होती है। जनपदों का यह बंटवारा जनता की स्वाभाविक स्थानीय आकांक्षाओं की पूर्त्ति करता था। वह जनता के लिये स्थानीय एकता का सुदृढ़ बन्धन था। राज्यों के ऐतिहासिक विघटन के समय भी जनपदीय जीवन की इकाई ठोस चट्टान की भाँति स्थिर रहती थी। जनपदों के रूप में भारतीय जीवन की माला हिमाद्रि से कुमारी तक गूंथी गई थी। जनपदों को हम इस माला के स्थायी मनके कह सकते हैं। प्रत्येक जनपद की पृथिवी स्थानीय जीवन के आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषा और विद्या संबंधी पहलुओं से हरी-भरी बनी रहती थी। जिस प्रकार यूनान देश में वहाँ की संस्कृति की धात्रियाँ 'सिटी स्टेट्स' या पौर-राज्य थे, ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष के जनपद भी सांस्कृतिक और राजनैतिक इकाइयों के रूप में स्थानीय विश्व-जनता की माताएँ थीं।

किन्तु जनपदों की इस विविध शृंखला को एकत्र मिलाकर किसी महान् राजनैतिक संगठन का आदर्श भी वैदिक काल से मिलने लगता है। इस संबंध में प्रत्येक राजा की ऐन्द्र महाभिषेक (राज्यासन पर आसीन होने के अभिषेक) के समय पढ़ी जानेवाली प्रतिज्ञा को हम नहीं भुला सकते। इसमें कहा है—

'जो ब्राह्मण पुरोहित यह इच्छा करे कि अभिषिक्त होनेवाला क्षत्रिय सब जितियों को जीते, सब लोकों को प्राप्त करे, सब राजाओं में श्रेष्ठता प्राप्त करे, एवं साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, इन विभिन्न प्रकारों से अभिषिक्त होकर परम स्थिति

प्राप्त करे, चारों दिशाओं के अन्त तक पहुँचकर आयु पर्यन्त सार्वभौम बने और समुन्द्र पर्यन्त पृथिवी का एकराट् बने, उस क्षत्रिय को इस ऐन्द्र महाभिषेक की शपथ दिलाकर राज्य में अभिषिक्त करना चाहिए[1]। इस प्रतिज्ञा में हम उन अनेक शब्दों की गूंज सुनते हैं जिनसे भारत का राजनैतिक इतिहास आन्दोलित हुआ है। भारतीय इतिहास में जितने राजाओं का अभिषेक वैदिक पद्धति से हुआ सबके लिए इसी प्रतिज्ञा का उच्चारण हुआ होगा। देश की भौगोलिक एकता को इसमें स्पष्ट राजनैतिक एकता के साथ मिलाया गया है। समन्त-पर्यायी सार्वभौम और समुन्द्र पर्यन्त पृथिवी का एकराट् ये दोनों आदर्श देशव्यापी राजनैतिक चेतना के सूचक हैं। इसी से प्रेरित होकर शकुन्तला ने कहा था—

'हे दुष्यन्त, मेरा यह पुत्र शैलराज हिमवन्त का शिरोभूषण धारण करनेवाली इस चतुरन्त पृथिवी का पालन-पोषण करनेवाला बनेगा।' हम पहले कह चुके हैं कि भरत का अजित चक्र लोक में गूंजता आ सब राजाओं को अपने वश में लाकर समस्त पृथिवी पर फैल गया था। इसके कारण भरत सार्वभौम चक्रवर्ती कहलाए[2]। भरत से आरंभ होकर यह परम्परा और ये आदर्श और भी कितने ही राजाओं में अवतीर्ण हुए।

---

(१) स य इच्छेदेवंवित्क्षत्रिय मयं सर्वा जितीर्जयेतायं स सर्वांल्लोकान्विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत् साम्राज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं परमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समंत पर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष आऽन्तादा परार्धात्पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ताया एकराडिति तमेते नैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिंचेत् (ऐतरेय ब्राह्मण ८।१५)

(२) तस्य तत्प्रथितं चक्रं प्रावर्तत् महात्मनः ।
भास्वरं दिव्यमजितं लोक सन्नादनं महत् ॥
स विजित्य महीपालाञ्चकार वशवर्तिनः ।
स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ॥ (आदि० ६९।४५-४७)

ऊपर लिखी हुई कई राज्यप्रणालियों में परस्पर भेद थे। 'सार्वभौम' शब्द सर्वभूमि या महापृथिवी के राज्य की ओर संकेत करता है। सार्वभौम राजा को चक्रवर्त्ती भी कहा जाता था। जिसके रथचक्र के लिये अपने जनपद से बाहर कोई रुकावट न हो उसे चक्रवर्त्ती कहा गया जान पड़ता है। पीछे उस बढ़े हुये राजनैतिक सीमा-विस्तार या भू-भाग के लिये चक्र शब्द का प्रयोग होने लगा। सार्वभौम पद्धति में यह आवश्यक था कि राजा दूसरे राजाओं के साथ युद्ध करके या तो उन्हें अपना वशवर्त्ती बना ले और या बलपूर्वक उनका राज्य अपने राज्य में मिला ले। यही भरत ने किया, और कालान्तर में समुद्रगुप्त ने भी इसी नीति का अवलम्बन किया। आरम्भिक अवस्था में प्रायः प्रत्येक देश में भूमि अनेक जनपदीय राजाओं में बँटी हुई होती थी, उनमें से प्रत्येक की अपनी स्वतंत्र सत्ता रहती थी। उनके बीच में कोई एक शक्तिशाली राजा उठ खड़ा होता और भरत के समान ही सबके ऊपर अपना चक्र स्थापित करके उस राजनैतिक एकता का प्रदुर्भाव करता, जिसे 'सार्वभौम' या 'चक्रवर्त्ती राज्य' कहते हैं। महाभारत से ज्ञात होता है कि आधिपत्य या आधिराज्य शासन प्रणाली वह थी जिसमें अन्य राजाओं से कर ग्रहण करके उन्हें अपने केन्द्र में सुरक्षित रहने दिया जाता था। पांडु ने कुरु जनपद की शक्ति का विस्तार करते हुए मगध-विदेह, काशी, सुह्म, पुण्ड्र आदि जनपदों को अपना करद बना लिया था (आदि० १०५।१२–२१) और स्वयं अधिराज्य का भोक्ता कहलाया।

इन दोनों से अधिक कठोर साम्राज्य का आदर्श था जिसे हम जरासन्ध के जीवन में चरितार्थ देखते हैं। सम्राट् अपने जनपद की सीमा का विस्तार करता हुआ और किसी भी राज्य को सुरक्षित न रहने देता था। सभापर्व में सम्राट् सबको हड़पनेवाला कहा गया है। (सम्राज् शब्दो हि कृत्स्नभाक्। १४।२)। साम्राज्य का आधार बल था (सभा०, १४।१३, बलादेव साम्राज्यं कुरुते)।

साम्राज्य से विपरीत पारमेष्ठ्य प्रणाली थी जो गण राज्यों में प्रचलित थी। यह शासन कुलों के आधार पर बनता था। इसमें प्रत्येक घर का

ज्येष्ठ व्यक्ति 'राजा' कहलाता था (गृहे गृहे हि राजानः, सभा० १४।२); जैसे शाक्यों में और लिच्छिवियों में प्रत्येक क्षत्रिय राजा कहलाता था। वे सब मिलकर अपने आपस में किसी एक को श्रेष्ठ मान लेते थे। वही उस समय उस राज्य का अधिपति होता था[1]। जिस प्रकार साम्राज्य शासन का आधार बल था उसी प्रकार पारमेष्ठ्य या गण शासन का आधार शम अर्थात् शांति की नीति थी[2]। इस देश में किसी समय कुलों पर आश्रित इस शासन प्रणाली का बहुत प्रचार था और जनता इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। कुल शासन-प्रणाली में दूसरे कुल या व्यक्ति के अनुभाव या व्यक्ति-गरिमा का सम्मान किया जाता था एवं जनपद के भीतर दूर दूर तक जनता का श्रेय या कल्याण दिखाई पड़ता था (सभा० १४।३-४) साम्राज्य में यह श्रेय अधिकतर राजपरिवार या राजधानी के लोगों तक ही सिमिट कर रह जाता था।

गणों की जनता कुछ इस प्रकार सोचती थी—राजनीति में शम का अवलम्बन ही सच्चा शम है। मोक्ष साधन से जो शम मिलता है वह कोई शम नहीं।

भारतीय इतिहास का रंगमंच इन विभिन्न राज्य-प्रणालियों की लीला-भूमि रही है। देश की एकता का भाव न केवल धर्म के मार्ग से अग्रसर हुआ बल्कि राजाओं की राजनीति के द्वारा भी समय-समय पर उसकी स्थापना होती रही। जिस प्रकार यूनान में स्पार्टा और एथेन्स अन्य पौर राज्यों के ऊपर प्रबल हो गए थे वैसे ही अपने देश में बहुत कशमकश के बाद मगध का साम्राज्य ऊपर तैर आया। बृहद्रथवंशी जरासन्ध से जो प्रवृत्ति शुरू हुई थी वही शिशुनाग और नन्दवंशी राजाओं के समय में आगे बढ़ी। पहले तो इस प्रकार के विस्तार के विरुद्ध जनता में प्रतिक्रिया

---

(१) एवमेवाभिजानन्ति कुले जाता मनस्विनः।
कश्चित्कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥(सभा० १४।६)

(२) शममेव परं मन्ये न तु मोक्षाद्भवेच्छमः। (सभा०१४।५)

भी थी किन्तु पीछे लोग इसके प्रति अभ्यस्त और सहिष्णु बन गए। शिशु-नाग वंशी अजातशत्रु ने लिच्छिवि गण की परवाह न करके उनपर भी हमला कर दिया। ऐसे ही नन्दवंश के नन्दवर्धन और महापद्मनन्द ने अनेक जनपदीय इकाईयों का अन्त करके मगध साम्राज्य की प्रबल सत्ता स्थापित की।

इस प्रवृत्ति का सबसे विकसित रूप चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में दृष्टिगोचर हुआ। ऐतिहासिक काल में सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त के राज्य में हम कई प्राचीन आदर्शों को चरितार्थ हुआ देखते हैं। उसका राज्य अफगानिस्तान से लेकर दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था। जिसे सर्व-भूमि या सर्व पृथिवी कहा जाता था उसके अन्तर्गत सच्चे अर्थों में सारे देश की गिनती होने लगी। समन्त पर्यायी या चतुरंत इन प्राचीन शब्दों का जो अर्थ था उसे भी हम मौर्य साम्राज्य के चार खूंट विस्तार में पूर्ण हुआ पाते हैं। इसी प्रकार एतरय ब्राह्मण में समुद्र-पर्यन्त पृथिवी के एक-राट् की जो कल्पना मिलती है वह भी मौर्य-शासन की सचाई थी। देश के सौभाग्य से किसी गाढ़े समय में मौर्य साम्राज्य का उदय हुआ। उसकी स्थापना से देश यूनानियों के उस धक्के से बच गया जिसने बाहीक के संघों या पंजाब और उत्तर-पश्चिम के गणराज्यों को झकझोर डाला था।

मौर्य साम्राज्य का मधुर फल दो रूपों में प्रकट हुआ। एक तो इससे समस्त देश में समान शासन-संस्थाओं की स्थापना हो गई। शासन के कर्मचारी, विभाग, आय के साधन, कर-व्यवस्था, यातायात के मार्ग, दंड और व्यवहार, दीवानी और फौजदारी की न्यायव्यवस्था, नाप-तौल और मुद्राएं इन सब बातों में देश ने एकसूत्रता का अनुभव किया। इससे जनता के जीवन को एकरूपता प्रदान करने वाले बन्धन दृढ़ हुए। विष्णु-गुप्त का अर्थशास्त्र साम्राज्य के मन्थन से उद्भूत उस एकरूपता का परि-चायक महान् ग्रंथ है। उदाहरण के लिये, मौर्य-साम्राज्य में जो सिक्के चालू थे उनके बहुत से निधान (जख़ीरे) तक्षशिला से लेकर राजस्थान,

मगध, कलिंग, मध्यभारत, महाराष्ट्र, आन्ध्र, हैदराबाद, मैसूर आदि प्रदेशों में पाए गए हैं। चांदी की इन आहत मुद्राओं की तौल सब जगह ३२ रत्ती थी। उनपर बने हुए रूप या चिह्न भी सब जगह एक से पाए गए हैं। ज्ञात होता है कि शासन की किसी केन्द्रीय टकसाल में वे ढाले गए थे। अशोक के शिला स्तम्भ भी इसी प्रकार पाटलिपुत्र की केन्द्रीय कर्मशाला में तैयार होकर दूरस्थ स्थानों को भेजे गए थे।

मौर्य साम्राज्य का दूसरा सुफल यह हुआ कि उससे देश में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई। भारतवर्ष की जनता अपने चारों ओर के देशों से सच्चे अर्थ में परिचित हुई। भारतवर्ष से जानेवाले लम्बे राजमार्ग और अधिक लम्बे होकर दूसरी राजधानियों से जुड़ गए जिनके द्वारा यहाँ का व्यापारिक यातायात विदेशों के साथ बढ़ा। उन्हीं मार्गों से विदेशी-दूत-मंडल साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र की ओर मुड़े और भारतवर्ष से अनेक धर्म-प्रचारक विदेशों में गए। सम्राट् अशोक भारतीय साम्राज्य-प्रणाली के सबसे अधिक सुन्दर और मधुर फल कहे जा सकते हैं। देहरादून के समीप यमुना के किनारे कालसी के शिलालेख में इन पांच विदेशी राजाओं के नाम गिनाए गए हैं—(१) सीरिया और पश्चिमी एशिया के राजा अंतियोक (२६१–४६ ई०पू०), (२) मिश्र के तुलमय या टालेमी (२८५-२४७ ई० पू०), (३) मेसीडोनिया के अंतिकिन (२७६-२३९ ई० पू०), (४) साइरीनी (उत्तरी अफ्रिका) के मग (३००–२५० ई० पू०) और (५) कोरिन्थ के अलिकसुन्दर या एलेक्जेंडर (२५२-२४४ ई० पू०)। यह तेरहवाँ शिलालेख लगभग २५२-२५० ई० पू० में उत्कीर्ण कराया गया जबकि ये सब राजा एक साथ जीवित रहे होंगे। अशोक के भेजे हुए दूत-मंडल इनके दरबारों में शांति और मानवता का मैत्री-संदेश लेकर गए थे। उस समय के सभ्य संसार को अपने साथ लेकर आगे बढ़ने का संकल्प अशोक के मन में आया था। बौद्ध-आख्यानों, में, जो अशोकावदान के नाम सेप्रसिद्ध है, और भी उल्लेख हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अशोक के प्रयत्नों से भारत का संबंध तिब्बत, बर्मा, सिंहल,

स्याम, कम्बोज आदि देशों से जुड़ गया था और भारत से धर्म और संस्कृति की धाराओं का यशःप्रवाह इन पड़ोसी देशों में भी फैल गया था ।

इस प्रकार पहली बार वह कल्पना ऐतिहासिक सत्य के रूप में उभर कर सामने आ गई जिसने जम्बूद्वीप के देशों की महती माला में भारत को मध्यमणि बना दिया । उसका वह ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और वरिष्ठ रूप आनेवाली शताब्दियों में और भी निखरता गया। सचमुच भारत की पृथिवी अठारह-द्वीपों की अष्ट-मंगलक माला पहननेवाली बन गई[१] । गुप्तों के स्वर्णयुग में भारत का वह दिव्य भास्वर तेज मध्य एशिया से हिन्द एशिया तक (जो उस समय भारतीय भोगोल में द्वीपान्तर के नाम से प्रसिद्ध थी[२], और चीन से ईरान तक सर्वत्र छा गया था। जैसा पहले अध्यायों में दिखाया गया है, इस देश की वह सबसे महती धर्म-विजय थी। बाहर इस सिद्धि के प्राप्त कराने में देश के भीतर का गुप्तों का एकछत्र शासन और सुसमृद्ध राज्य भी कुछ कम उत्तरदायी न रहा होगा। कालिदास ने 'एकात-पत्रं जगतः प्रभुत्वम्' के आदर्श में (रघु० २।४७) अपने युग के भावों को ही व्यक्त किया है। भौगोलिक दृष्टि से यह प्रभुत्व अपने देश के भीतर ही सीमित था किन्तु सांस्कृतिक आदर्श भारत के विश्वराज्य को चरितार्थ करता था। उस महाकवि ने अपने युग की इस सचाई की ओर अन्य प्रकार से भी संकेत किया है । पुराणों ने जहाँ एक ओर हिमालय को भारत के धनुषाकृति संस्थान की तनी हुई प्रत्यंचा कहा है, वहाँ कालिदास ने उसे पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच में

---

(१) अपि च तवाष्टादश-द्वीपाष्टमंगलक-मालिनी मेदिनी अस्त्येव विक्रमस्य विषयः।
हर्षचरित में बाण की कल्पना, उच्छ्वास ६, पृ० १८५

(२) प्राचीन जावा की भाषा में इसे भूम्यन्तर और नुसान्तर कहा गया है । जावा की भाषा में नुसा=द्वीप।

व्याप्त पृथिवी का मानदंड कहा है[१]। (३) यदि हिमालय रूपी मानदंड के दोनों सिरों पर उत्तर-दक्षिण की ओर रेखाओं का विस्तार किया जाय तो उनसे जो भू-खंड परिच्छिन होगा उसे ही गुप्तकाल में भारतीय संस्कृति या उस युग के शब्दों में धर्म-राज्य का भू-विस्तार समझना चाहिए। गुप्तकाल में हिमवान् सचमुच भारत की पूर्व-पश्चिम चौड़ाई का मापदंड था। पूर्व में किरात देश और पश्चिम में अफगानिस्तान में हिमालय के भाग हिन्दूकुश, बाल्हीक तक हिमवन्त का विस्तार था। उतना ही उस समय भारतवर्ष था। किन्तु स्थूल भौगोलिग विस्तार पर आग्रह इस देश की पद्धति नहीं रही। यहाँ तो यश-विस्तार, धर्म-विस्तार या संस्कृति विस्तार जो पर्यायवाची हैं, महत्वपूर्ण माने जाते थे। उसका संकेत करते हुए कालिदास ने लिखा—'वह यश पर्वतों को लांघकर और समुद्रों को पार कर उनके उस ओर पहुंच गया। पाताल और स्वर्ग में भी वह भर गया। देश और काल में उस यश के विस्तार की कोई सीमा न रही[२]'। आज मध्य एशिया और हिन्देशिया के पुरातत्त्वगत अवशेष कालिदास के कथन की प्रत्यक्ष व्याख्या करते हैं।

इस सांस्कृतिक विस्तार की सच्ची प्रतीति उस युग की जनता के मन में थी। इसका सबसे पक्का प्रमाण इस बात से मिलता है कि उस युग में भारत नाम का भौगोलिक अर्थ ही बदल गया था। भारत के अन्दर बृहत्तर

(१) अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः
(कुमार० १।१)

(२) आरूढ़ मद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥
(रघुवंश, ६।७७) बाण ने भी कालिदास के स्वर में स्वर मिलाते हुए दिलीप के विषय में लिखा—भ्रूलतादिष्टाष्टादश द्वीपे दिलीपे (हर्षचरित, उच्छ्वास ६, पृ० १७९)

भारत का भी परिगणन होने लगा था। गुप्त युग के पुराण लेखकों ने भारत की निजी भूमि के लिये कुमारी द्वीप नाम प्रचलित किया और उसके साथ पूर्वी-द्वीप समूह या द्वीपान्तरों को मिलाकर बृहत्तर भारत के अर्थ में 'भारत' शब्द का प्रयोग शुरू किया (दे० पूर्व पृ० ५५)। अपने युग के इस आदर्श का बौद्ध साहित्य में भी उल्लेख हुआ है। ललित-विस्तर में एक कल्पना है कि कोई दिव्य चक्र-रत्न धर्म-विजय करते हुए चारों दिशाओं में घूमता है। उससे मूर्धाभिषिक्त धर्मात्मा राजा पूर्व दिशा को जीतता है। पूर्व दिशा को जीतकर पूर्व समुद्र में प्रविष्ट होकर उसे भी पार कर जाता है। इसी प्रकार वह दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा और उत्तर दिशा को भी जीतकर उन-उन समुद्रों का अवगाहन करता है[1]।

---

(१) एवं खलु राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तो पूर्वां दिशं विजयति। पूर्वां दिशं विजितः पूर्व समुद्रमवगाह्य पूर्वं समुद्रमवतरति दक्षिणां दिशं पश्चिमामुत्तरां दिशं च विजित्य उत्तरं समुद्रमवगाहते (ललित विस्तार, पृ० १५)।

इसी भावना का समर्थन बाण की इस कल्पना से होता है—हर्ष का फड़कता हुआ दक्षिण भुजदण्ड प्रार्थना कर रहा था कि मुझे अट्ठारह द्वीपों की विजय करने के अधिकार पर नियुक्त कीजिए (नियुज्य तत्काल स्मरण स्फुरणेन कथितात्मानमिव चाष्टादश द्वीप जेतव्याधिकारे दक्षिणं भुजस्तम्भम्, हर्षचरित, उच्छ्वास ७, पृ० २०३)।

बाण ने इस युग में जनता के विदेशों में यातायात को देखते हुए 'सर्वद्वीपान्तर संचारी पादलेप' इस साहित्यिक अभिप्राय का उल्लेख किया है (अर्थात् पैरों में कुछ ऐसा लेप लगाना जिससे सब द्वीपान्तरों में घूम आने की सामर्थ्य प्राप्त हो, हर्षचरित, उच्छ्वास ६, पृ०१९४)। वहीं समुद्र यात्रा से लक्ष्मी संप्राप्ति (अब्भ्रमणेन श्रीसमाकर्षण, पृ०१८९) का भी उल्लेख है।

वस्तुतः उस युग के साहित्य में भारत के भीतरी और बाहरी भू-प्रदेश की भौगोलिक एकता के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध बार-बार उभर आते हैं। इन्दुमती के स्वयंवर में देश के सब राजाओं को एकत्र कर कवि ने मातृभूमि का एक समुदित चित्र उपस्थित किया है। पुष्पपुर के मगध-श्वर, अंगदेश (मुंगेर, भागलपुर) के राजा, महाकाल और शिप्रा के स्वामी अवन्तिनाथ, माहिष्मती के अनूपराज, मथुरा, वृन्दावन और गोवर्धन के शूरसेनाधिपति, महेन्द्र पर्वत और महोदधि के स्वामी कलिंगनाथ, उरगपुर और मलय स्थली के पाण्ड्यराज एवं उत्तर कोसल के अधीश्वर, इन सबको इन्दुमती के स्वयंवर में एकत्र लाकार कवि मगधेश्वर के लिये कहता है—कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वती माहुरनेन भूमिम् (रघु० ६।२२)। 'और सहस्त्रों राजा भी चाहे हों, यह भूमि मगध के सम्राटों से ही राजवन्ती कहलाती है।' देश की राज्यशक्तियों में उस समय मगध का जो सर्वोपरि स्थान था उसका यथार्थ उल्लेख कवि के शब्दों में है। विदर्भ जनपद की राजकुमारी के स्वयंवर का क्षितिज उत्तर कोसल से दक्षिण के पाण्ड्य देश तक विस्तृत था। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवहार और राजनैतिक संबंधों की दृष्टि से अपनी आंतरिक सीमाओं के भीतर भारत की भूमि दृढ़ इकाई बन चुकी थी।

दूसरी ओर जब हम विदेशों के साथ भारत के संबंधित हो जाने की बात सोचते हैं तो भारतीय साहित्य में उसकी भी साक्षी उपलब्ध होती है। इसका अच्छा उदाहरण दिग्वर्णन के रूप में पाया जाता है। गुप्तकाल में जब ईरान से जावा तक भारत का यातायात फैल गया था, उस समय के सांयात्रिक नाविकों अथवा स्थल-मार्ग से यात्रा करनेवाले सिद्धयात्रिक सार्थवाहों के उपयोग के वास्ते ये दिग्वर्णन संकलित किए गए होंगे। इनमें चारों दिशाओं में भारत के भीतर और बाहर के प्रसिद्ध स्थानों और देशों का एक ढर्रा-सा पाया जाता है। पूर्व दक्षिण, पश्चिम, उत्तर इस प्रदक्षिणा क्रम से ये दिग्वर्णन मिलते हैं। इस दिग्वर्णन

के कई रूप साहित्य में पाए गए हैं। एक रूप बुद्धस्वामिन् के 'बृहत्कथा श्लोक संग्रह' नामक ग्रंथ में है। रामायण के किष्किन्धा कांड में सुग्रीव द्वारा चारों दिशाओं में सीता की खोज के लिये बन्दरों के भेजे जाने के प्रसंग में भी दिग्वर्णन आया है। वहाँ पूर्व दिशा का वर्णन करते हुए जावा के सप्त राज्यों का उल्लेख है। ये राज्य तीसरी-चौथी शती से पहले जावा में न थे। महाभारत के वनपर्व में गालव-चरित के अन्तर्गत गरुड़ ने गालव से दिग्वर्णन किया है। उसमें पश्चिम दिशा में हरिमेधस् देव का उल्लेख है जिसकी ध्वजवती नामक कन्या पर सूर्य मोहित हो गए थे और वह सूर्य के आदेश से आकाश में ही खड़ी हो गई थी। हरिमेधस देव ईरानी अहुर्मज्दा का ही रूप है जिसे गुप्तों के समकालीन ईरान की पहलवी भाषा में हरमुज कहते थे। सभापर्व के दिग्विजय पर्व के अन्तर्गत भी एक दिग्वर्णन है जिसमें भारतवर्ष की भौगोलिक इकाई को बढ़ाकर विदेशों के साथ मिलाया गया है। वहाँ उत्तर दिशा की ओर दिग्विजय करते हुए अर्जुन की यात्रा पामीर (कम्बोज) और मध्य एशिया के उस पार के प्रदेश (उत्त कुरु) तक जा पहुँचती है जहाँ ऋषिक नाम से विख्यात यू-चि जाति का मूल आवास स्थान था। यहीं गोबी और मंगोलिया के बीच में कहीं चन्द्रद्वीप था जहाँ से निकास होने के कारण भारत के कनिष्क आदि शक-तुषार राजा चन्द्रवंशी कहलाते थे। इस प्रकार भारत की स्थिति उस पट-मंडप के समान थी जिसके दीप्तिपट प्रकाश और वायु का आवाहन करने के लिये चारों दिशाओं में उन्मुक्त हो गए थे। भारत के जल और स्थल मार्गों पर इस समय अभूत पूर्व चहल पहल दिखाई देती थी। एक ओर राजदरबारों में विदेशी दूत-मंडलों के आने-जाने का ताँता लगा रहता था[1], तो दूसरी ओर भारतीय समुद्रतट के पोतपत्तन नानादेशीय

(१) चीन की अनुश्रुतियों के अनुसार, चीन-सम्राट् हो-ति के समय (८९-१०५ ई०) में भारतीय राजदूत चीन गए। मिलिन्दपन्ह के अनुसार, चीनी सम्राट् हुआङ-ति के दरबार में महाक्षत्रप रुद्रदामा के दूत सिन्धुप्रान्त से उपहार लेकर गए थे। लगभग १९० ई० में

व्यापारियों से भरे रहते थे। जब इन दूत-मंडलों का आदान-प्रदान हो रहा था, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत की ख्याति किसी जनपद के रूप में न थी बल्कि उसे महान् देश की प्रतिष्ठा

अलेक्जेंड्रिया के शासक द्वारा भेजा हुआ पैंटेनस नामक राजदूत भारत आया। लगभग ३३६ ई० में सम्राट् कौंस्टेंटाइन के यहां भारतीय प्रणिधिवर्ग पहुँचा। ५१८ ई० में उत्तरी वई वंश की चीन-सम्राज्ञी द्वारा भेजा हुआ सुङ्युन् नामक दूत पश्चिमी भारत आया। ५३० ई० में भारतीय राजदूत उपहार लेकर कुस्तुंतुनिया के सम्राट् जुस्टीनियन के दरबार में पहुँचे। ५४१ ई० में भारतीय राजदूत चीनी सम्राट् थाय्-चुङ के दरबार में पहुँच गए। ६०७ ई० में सिंहल के हिन्दू शासक के दरबार में चीन सम्राट का भेजा हुआ दूत-मण्डल आया। चालुक्यसम्राट पुलकेशिन् द्वितीय के दरबार में ईरानी सम्राट् खुसरू परवेज़ (५९५–६२५) का भेजा हुआ प्रणिधि वर्ग आया। ६४१ में हर्ष का ब्राह्मण राजदूत चीन गया और ६४५ में चीन सम्राट् का प्रणिधिवर्ग सम्राट् हर्ष के दरबार में आया। बाण ने तो हर्षचरित में स्पष्ट लिखा है कि सब देशों से आए हुए दूत-मंडल हर्ष के दरबार में ठहरे हुए थे (सर्वदेशान्तरागतैश्च दूत मण्डलैरुपास्यमानम्, हर्ष, उच्छ्वास २, पृ० ६०)। यह सिलसिला इसी प्रकार आगे भी जारी रहा। सुमात्रा और यवद्वीप के शासक शैलेन्द्रवंशी राजा बालपुत्रदेव ने मुंगेर के राजा देवपालदेव के पास दूत भेजकर नालन्दा विश्वविद्यालय में चातुर्दिश भिक्षुसंघ के लिये पांच गांव दान में देने का ताम्रपट्ट प्राप्त किया जो नालन्दा महाविहार की खुदाई में प्राप्त हुआ है। 'भारत का विदेशों के साथ प्रणिधि-संबंध', ना० प्र० पत्रिका, विक्रमांक उत्तरार्ध, संवत् २००१, पृ० २७०–२७४ से उद्धृत।

प्राप्त हो चुकी थी। भारतीय-दूत, भारतीय-पोत, भारतीय विद्वान्—इन सब पर भारत के एक खंड की सीमित छाप न थी, वे अपने साथ समग्र देश की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा लेकर विदेशों में पहुँचते थे। जनता के मनोराज्य में देश की सत्ता एक और अविकल थी। तभी देश के प्रत्येक भाग से झुण्ड-के-झुण्ड ब्राह्मण दूसरे भागों में जाकर बस जाते थे और राजाओं द्वारा उनके लिये भूमि और जीविका का प्रबंध किया जाता था। समतट के ब्राह्मण राजकुल में जन्मे हुए शीलभद्र विद्वान् नालन्दा विश्वविद्यालय में आकर वहां के आचार्य हो गए। काश्मीर के विद्वान् बिल्हण (११वीं शती) कल्याणी के चालुक्यवंशी सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६-११२९) के राजकवि के रूप में 'विद्यापति' पदवी से सुशोभित हुए। बिल्हण ने विक्रमांकदेव चरित काव्य में करहाट की राजकुमारी चन्द्रलेखा के स्वयंवर में देश का जो चित्र खींचा है वह कालिदास के इन्दुमती स्वयंवर का ही परिवर्तित रूप है। वहाँ मंडप में अयोध्या, चेदि, कान्यकुब्ज, चर्मण्वती तटदेश, कालञ्जरगिरि, गोपाचल, मालव, गुर्जर, पाण्ड्य, चोल देशों के राजा उपस्थित हुए थे। वह स्वयंवर समान देश की समान सामाजिक रीति-नीति की ओर संकेत करता है।

मध्यकाल की राजनीति जिस प्रकार देश की एकता को व्यक्त करती है, वह विक्रमादित्य चालुक्य, राजराज चोल, राजेन्द्रचोल, सिद्धराज, भोज, कर्ण, गांगेय देव, गोविन्दचन्द्र, विग्रहपाल आदि की दिग्विजय पद्धति, राज्य-प्रणाली, गुणग्राहकता, धार्मिकजीवन, पारिवारिक जीवन रूपी सहस्रों विशेषताओं से प्रकट होता है। सर्वत्र एक समान आदर्श और एक-सी जीवन-विधि पाई जाती है, जैसे देशव्यापी किसी विराट् परिषद् ने राजा और प्रजा के चरितों को एकता के साँचे में ढाल दिया हो। उन चरितों के सैकड़ों बाह्य रूप और मन की प्रेरणाएं सर्वत्र समान हैं। शासन-प्रणाली की जिस एकरूपता की ओर देश बढ़ रहा था उसका एक अच्छा उदाहरण समस्त देश में भूमि का बन्दोबस्त और कर-निश्चिति के

रूप में मिलता है। इसे 'ग्राम-संख्या' कहा जाता था। इसका अर्थ अंग्रेजी के हिसाब से लैंड-सर्वे किया जा सकता है। शुक्रनीति से यह सूचित होता है कि इस प्रकार की एक ग्राम संख्या गुप्त-काल के लगभग की गई थी, जिसमें प्रत्येक ग्राम, मंडल, प्रदेश आदि द्वारा देय भूमि-कर चाँदी के कार्षापण सिक्कों में निश्चित कर दिया गया था। ये-ये संस्थाएँ उस-उस राष्ट्र या प्रदेश के नाम के साथ शिलालेखों में जुड़ी हुई मिलती हैं, जैसे ऐहोली के लेख में महाराष्ट्र की तीन भागों की ग्राम-संख्या अर्थात् भूमि का लगान ९९ सहस्र कहा गया है। मध्यकाल अर्थात् दशमी शती के लगभग फिर इस प्रकार का बन्दोबस्त हुआ जिसका उल्लेख 'अपराजित पृच्छा' नामक ग्रंथ में आया है। वहाँ स्पष्ट कहा है कि ग्रामसंख्या, देश-प्रमाण और राजाओं का मान, तीनों का आधार 'रूप' था---ग्रामाणां च तथा संख्या देशानां च प्रमाणतः। राज्ञां च युक्तिमानं च अलंकारैस्तद्रूपतः (अपराजितपृच्छा ३८।२)। यहाँ रूप शब्द का अर्थ रुपया अर्थात् आज-कल की परिभाषा म जमाबन्दी है। राजाओं के युक्ति-मान अर्थात् छुटाई-बड़ाई के आधार पर दरबार आदि में उनका सम्मान इसी बात पर आश्रित था कि उनके राज्य की आय क्या थी। सामन्त, मांडलिक, महामाण्डलिक, नृप, महाराज आदि पद आय के हिसाब से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने जाते थे। इसी हिसाब से सामन्त, मांडलिक या राजा लोग मुकुट आदि आभूषण भी भिन्न-भिन्न प्रकार के पहिनते थे, जिससे प्रतिहारी भी स्वागत-सत्कार के समय उन्हें पहिचान लेते थे। इसका उल्लेख 'मानसार' नामक ग्रंथ में आया है (अध्याय ४९)। अपराजित पृच्छा में देश के मुख्य-मुख्य भागों की ग्राम संख्या या जमाबन्दी दी हुई है, जैसे कान्यकुब्ज ३६ लाख, गौड़ १८ लाख, कामरूप ९ लाख, मंडलेश्वर १८ लाख, कार्त्तिकपुर ९ लाख, चोलदेश ७२ लाख, दक्षराज्य ७॥ लाख उज्जयिनी १८,९२,०००, शाकम्भर १,२५,०००, लाट गुर्जर, कच्छ, सौराष्ट्र सम्मलित २ लाख, मरुकोटि और मरुमंडल (मेवाड़, मारवाड़) ३॥ लाख, सिन्धुसागर ३॥ लाख, खुरषाण या खुराषाण ४० लाख, त्रिगर्त्त

२ लाख, अहिराज्य १२ लाख, गुणाद्वीप ६।। लाख, जलंधर ३।। लाख, कश्मीर- मंडल ६६,१८० । इस प्रकार इन २१ राज्यों की आयकी ग्राम-संख्या या भूमिकर २,६९,३३,१८० होता है। स्कन्दपुराण के माहेश्वर खंड के अन्तर्गत कुमारिका-खंड के अध्याय ३९ में कुमारी द्वीप अर्थात् भारत-देशों की ग्राम संख्या का योग ९९ करोड़ कहा गया है, किन्तु प्रत्येक के लिए दी ग्राम-संख्याओं का योग २८ करोड़, ८० लाख, ८९ हजार, होता है। कुमारिका खण्ड में तो पत्तन अर्थात् समुद्रपत्तन जल पत्तन या पोत पत्तनों में चुंगी से होनेवाली आय भी ७२ लाख कही गई है (३९।१६३) । अवश्य ही ये संख्याएं तभी सम्भव है, जब समस्त देश में राजनैतिक और आर्थिक एकसूत्रता जीवन की वास्तविक सचाई बन चुकी हो। मध्यकालीन हिन्दू राज्यों की इन संख्याओं की परम्परा में ही 'आईन-अकबरी' की वह संख्या है, जिसमें इलाहाबाद, आगरा, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, दिल्ली, काबुल, लाहौर, मुल्तान, मालवा, साम्राज्य के इन बारह सूबों की कुल आय ३,६२,९७,५५,२४६ दाम अर्थात् ९,०७,४३,८८१ रुपए कही गई है । पीछे से बरार, खानदेश, और अहमदनगर इन तीन सूबों के और आ जाने से राज्य की आय में वृद्धि हुई होगी ।* ये आँकड़े ऊपर लिखे हुए इस तथ्य को प्रमाणित करते

---

* शुक्रनीति, अपराजितपृच्छा, और स्कंदपुराण में देश की आय के आँकड़ों का आधार ३२ रत्ती की तोल का चांदी का कार्षापण सिक्का था । आईन-अकबरी में उसका आधार ८० रत्ती का रुपया है । इस हिसाब से स्कंदपुराण में दी हुई २८ करोड़, ८० लाख, ८९ हजार की आय आईन-अकबरी की ९ करोड़ रुपयों की आय के साथ लगभग ठीक बैठती है । इससे यह भी ज्ञात होता है कि भूमि के लगान की रकम राज्यों के उलट-फेर हो जाने पर भी पहले जैसी ही निश्चित रहती थीं, क्योंकि उसका आधार भूमि की उपज का षष्ठांश था जिसमें बहुत हेर-फेर की गुंजायश न थी ।

हैं कि देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में बंटे होने पर भी सामूहिक चेतना विद्यमान थी, जिसके अनुसार खुरासान, बल्ख और पामीर प्रदेश से लेकर लंका तक के भू-भाग को एक ही देश अर्थात् कुमारी-द्वीप के अन्तर्गत माना जाता था। कुमारिका-खंड की सूची में चार दिग्भागों के बतानेवाले कुछ महत्वपूर्ण नाम दिए हैं:—नेपाल, गाजनक (गाजना या गजनी) कम्बोज, बाल्हीक (बल्ख बुखारा), कश्मीर, ब्राह्मण वाहक (बहमन वह या ब्राह्मणावाद सिंध, राजशेखर का ब्राह्मणवह), सिन्धु—अति सिन्धु (अर्थात् सिन्धु के इस पार उस पार के देश) कच्छ, सौराष्ट्र, कोंकण, कर्णाट, लंका, सिंहल द्वीप, पाण्ड्य, पांसुदेश (उड़ीसा का पांसराष्ट्र), कामरूप, गौड़, बरेन्दुक (बारेन्द्री, पूर्व-बंगाल), किरात विजय (आसाम-तिब्बत की सीमा का प्रदेश), अश्वमुख देश (किन्नरों का देश रामपुर बशहर);—इस प्रकार भारत देश की परिक्रमा इन नामों में आ जाती है।

इस देश की इतिहास-गंगा का प्रवाह हिमालय के ऊंचे शिखरों से उतर कर गंगासागर तक प्रवाहित होता रहा है। कहां एक ओर वैदिक काल और कहाँ दूसरे छोर पर मध्यकालीन जीवन और संस्कृति? किन्तु यह निश्चय है कि भारतीय संस्कृति अनन्त भेदों के बीच में भी भौगोलिक एकता और समानता की स्वीकृति और आग्रह के उस व्रत से कभी विचलित नहीं हुई जिसे उसके मनीषी विप्रों ने ऋग्वेद में ही उसके लिये स्थिर कर दिया था—

समान मंत्र; समान समिति;
समान मन—ऐसा सबका चित्त।
सबके लिये समान मंत्र अभिमंत्रित।
सबकी समान हवि से यह अग्निहोत्र प्रवृत्त।

समान सबकी प्रेरणा;
समान सबके हृदय;

समान सबके मानस;
अतः साथ सबकी स्थिति* ।।

—

* समानो मंत्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।
(ऋ०१०।१९१।३-४)

अध्याय १०

उपसंहार

पूर्व लिखित वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि भारत की सांस्कृतिक एकता का ही दूसरा नाम उसकी मौलिक एकता है। यह सांस्कृतिक एकता जिस भू-प्रदेश में व्याप्त हुई उसका भौगोलिक नाम भारतवर्ष है। भारत का समस्त भू-खण्ड चाहे एक राजनैतिक चक्र अथवा शासन के अधीन न भी रहा हो तो भी यहाँ की कोटि-कोटि जनता के मन में भारत की मौलिक एकता का गहरा संस्कार था। राष्ट्र की अनेक संस्थाओं के रूप में यह सत्य प्रमाणित हुआ। विष्णु पुराण के लेखक ने इसी एकता की ओर लक्ष्य करते हुए लिखा––

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे। (विष्णु० २।३।२४)

इसमें पृथक्-पृथक् खण्ड की कल्पना नहीं है। उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, दक्षिण देश, उड़ीसा, बंगाल या बिहार में जिसने जन्म लिया

हैं वह धन्य है, ऐसा यहाँ नहीं कहा गया। कवि की दृष्टि में समस्त भारत भूमि ही धन्य है। इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए गुजरात के महाकवि नरसी मेहता ने जिनकी गणना हम राष्ट्रीय कवियों में करते हैं, गाया—

"भरत खण्ड भूतल मां जनम्यो।"

'भरतखण्ड के भूतल में मैंने जन्म लिया।' यही भाव जन-जन के मन में बसा हुआ था। देश के नाम के साथ अनुस्यूत जनता का नाम भारती प्रजा पड़ा—

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः॥ (विष्णु० २।३।१)

वायु, मत्स्य, मार्कण्डेय, सभी पुराण इसी परिभाषा का अनुकरण करते हैं।

हमारी भूमि का दूसरा महान् सत्य उसकी विविधता है। अनेक भाँति के भेदों को हमने पाया और उन्हें सहर्ष स्वीकार किया। जन, धर्म, भाषा के भेदों का उल्लेख अथर्व वेद में आया है, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। उसकी व्याख्या और विस्तार में कितना कुछ कहा जा चुका है और आगे भी कहा जा सकता है।

किन्तु भारतवर्ष को प्रकृति द्वारा जो पार्थक्य मिला यहाँ के मानव ने हृदय की शक्ति से उन भेदों के भीतर पैठकर निगूढ़ एकता को ढूंढ़ निकाला। हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का यही तृतीय सत्य है। यह संस्कृति भेदों को स्वीकार करती है किन्तु उसकी निजी विशेषता एकत्व की प्राप्ति है। एकत्व के विषय में जो धर्म और दर्शन का सत्य था वही समाज, राजनीति और जीवन का सत्य भी बना—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः (ईश उप०)

जो एकत्व दर्शी है उसके मन में अपनों से मोह और दूसरों से शोक कहाँ?

यहाँ के विचारशील पुरुष भेदों के कारण मोह को प्राप्त नहीं हुए।

जो पार्थक्य था उसे अपने-अपने स्थान में सुरक्षित और मर्यादित करके सब को ऐक्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न ही भारतीय इतिहास की विशेषता है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी अप्रतिम शैली में राष्ट्रीय संस्कृति के इस महान् उपनिषद् को इस प्रकार व्यक्त किया है—"विधाता भारतवर्ष में नाना विचित्र जातियों को खींच लाए हैं। जो ऐक्यमूलक सभ्यता मानवजाति की चरम सभ्यता हो सकती है, भारतवर्ष ने सदा नाना उपकरणों की सहायता से उसी की भित्ति खड़ी करने का प्रयत्न किया है। पराया कहकर उसने किसी को भी दूर नहीं किया; असंगत मानकर भी किसी का उपहास नहीं किया। भारतवर्ष ने सभी कुछ को ग्रहण किया है, सभी कुछ को स्वीकार किया है। इतना कुछ ग्रहण करके भी आत्मरक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि इस पुञ्जीभूतसामग्री में अपनी विशिष्ट व्यवस्था, अपनी शृंखला की स्थापना की जाय—इसे किसी एक मूल भाव द्वारा गूंथ कर रखा जाय। उपकरण कहीं का भी क्यों न हो, यह शृंखला—यह मूलभाव—भारतवर्ष का ही है।

पराये को अपना बनाने में प्रतिभा की आवश्यकता होती है। हमें भारतवर्ष में इसी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। भारतवर्ष ने निःसंकोच भाव से दूसरे के भीतर प्रवेश किया है और अनायास ही दूसरे की सामग्री को अपनाया है। भारतवर्ष ने पुलिन्द, शबर, व्याध आदि-आदि जातियों से भी बीभत्स सामग्री संग्रह करके उनमें अपना भाव प्रसारित किया है—उनके भीतर भी अपनी अमूल्य आध्यात्मिकता को अभिव्यक्त किया है। भारत ने कुछ भी त्याग नहीं किया और जो कुछ भी ग्रहण किया, सो उसे अपना बनाकर ग्रहण किया।

भारतवर्ष की प्रधान सार्थकता क्या है? यदि कोई इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर जानना चाहे, तो उत्तर दिया जा सकता है, और भारतवर्ष का इतिहास उसी उत्तर का समर्थन भी करेगा। हम देखते हैं कि भारतवर्ष ने सदैव प्रभेद के बीच ऐक्य स्थापन की चेष्टा की है, नाना पथों को सदा उसी एक लक्ष्य की ओर अभिमुख किया है और अनेक के बीच

एक को निःसंशय भाव से अन्तरतम रूप में प्राप्त किया है। भारतवर्ष ने बाहर के समस्त प्रतीयमान पार्थक्य को नष्ट किए बिना उसके अन्तर के निगूढ़ योग पर अधिकार किया है।

पृथिवी के सभ्य समाज में भारतवर्ष अनेक को एक करने के आदर्श के रूप में विराजमान है, उसके इतिहास से यही सत्य प्रतिपन्न होगा। एक को विश्व में और अपनी आत्मा में अनुभव करना, ज्ञान के द्वारा आविष्कृत करना, कर्म के द्वारा प्रतिष्ठित करना, प्रेम के द्वारा उपलब्ध करना और जीवन के द्वारा प्रचार करना—नाना बाधा-विपत्ति, दुर्गति-सुगति के बीच भारतवर्ष ने यही किया है।"

भारत राष्ट्र सत्यमेव मानवीय संस्कृतियों की प्रयोगशाला रहा है। यहाँ का सब से प्रभाव शाली मंत्र समवाय, या समन्वय है। इसी आध्यात्मिक रसायन से भारत में संस्कृतियों के सुन्दर, सुखद और प्रीति संयुक्त रूप विकसित हुए। भारतीय संस्कृति की यह साधना कुछ अतीत के साथ ही समाप्त नहीं हो गई। वर्तमान में भी इस संस्कृति की सब से सशक्त अध्यात्म धारा उसी समन्वय के सृजन में संलग्न है। यह विराट् संस्कृति विश्व के मानव-समाज का सब से अधिक चिरन्तन, सफल और आश्चर्य-जनक प्रयोग है। भारतीय संस्कृति के भावमय गंगाजल ने सब भेदों को श्रद्धा से प्रोक्षित किया। भारतीय मानव के मन ने समन्वय और ऐक्य के भाव से आनन्द और सन्तुलन प्राप्त किया। हमारे समस्त राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक प्रयत्न इसी लक्ष्य की प्राप्ति की ओर बढ़ते रहे और अब भी बढ़ रहे हैं। ये ही मातृभूमि के अमर हृदय से उत्पन्न होनेवाले वेग हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में इन अध्यात्म वेगों की सहस्र धाराएँ अहर्निश बह रही हैं जो सब के लिये सदा सर्वत्र सुलभ हैं—'सबहिं सुलभ सब दिन सब देशा।' भारत की समुद्रान्त सीमाओं तक संस्कृति की यह साधना नूतन पूर्णता प्राप्त करेगी। इतिहास के अतीत अनुभव अर्वाचीन भारतीय मानव के मन को पुनः प्रेम के विद्युत्स्पर्श से संचालित करेंगे।

इसके अतिरिक्त आज भारतवर्ष को विश्व मानव के साथ संपर्क में आने का नया अवसर मिला है। उस क्षेत्र में भी ऐक्य और समन्वय के ये प्रयोग व्याप्त होते जायेंगे। देश-देश में भारतीय संस्कृति का यह अन्तर्यामी सूत्र विस्तृत होगा। इसकी दिव्य सुगन्धि से विश्व मानव का मन सुरभित हो उठेगा। अनेकता में एकता की उपलब्धि यही विश्व मानव की सब से बड़ी सिद्धि कही जायगी। शम की नीति से ही यह सम्भव होगा। पूर्वकाल में भी भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की मूल कुंजी शम की नीति थी। जावा (यवद्वीप), सुमात्रा (सुवर्णद्वीप), बलि द्वीप, बोर्नियो (कलिमन्थनद्वीप), बर्मा (सुवर्णभूमि), कम्बुज, मलय, सिंहल, पुन्नागद्वीप (निकोवार), कूचा (मध्यएशिया), अग्निदेश (कारा शहर), बाल्हीक, कम्बोज आदि देश बार-बार भारतीय भूमि की ओर संस्कृति का अपरिमित कोश प्राप्त करने के लिये आकृष्ट होते रहे, क्योंकि भारतीय संस्कृति की पुण्यशाला में शम की अक्षय नीवि से जीवन की धारा प्रवृत्त होती रही। भविष्य के लिये भी भारतीय संस्कृति की यही मूल प्रेरणा रहेगी और भारती प्रजा का यही महान जनायन पंथ होगा।

परिशिष्ट

संकल्प

यह संकल्प स्नान-सन्ध्योपासन आदि के साथ नित्य पाठ में प्रयुक्त होता है। इसमें देश की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता की राष्ट्र-व्यापी स्वीकृति पाई जाती है।

हरिः ॐ तत्सदद्य श्री मद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य श्री ब्रह्मणो ऽह्ने द्वितीय प्रहरार्द्धे श्री श्वेत वाराह कल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे (खण्डे) भारते वर्षे कुमारिका खण्डे आर्यावर्तैक देशे अविमुक्त वाराणसी क्षेत्रे आनन्दवने भागीरथ्याः पश्चिमे तीरे विक्रमशके बौद्धावतारे अमुकनाम्नि सम्वत्सरे अमुकमासे अमुक पक्षे अमुक तिथौ अमुक वासरे अमुक शर्माहं ममोपात्त दुरित क्षय द्वारा श्री परमेश्वर प्रीत्यर्थं प्रातः सन्ध्योपासनं करिष्ये।

अनुवाद

हरि ॐ ही सत्य है। आज दिन महापुरुष भगवान् विष्णु की आज्ञा से प्रवर्तमान, ब्रह्मा जी की आयु के प्रथम दिन के दूसरे प्रहरार्ध में, श्वेत वाराह कल्प में, वैवस्वत मन्वन्तर में, अट्ठाइसवें कलियुग के प्रथम चरण में, जम्बूद्वीप में (भरतखंड में), भारतवर्ष में, कुमारिका खंड में, आर्यावर्त के एक भाग में, अविमुक्त देव के वाराणसी क्षेत्र में, आनन्द वन में भागीरथी के पश्चिम तट पर, विक्रम संवत् में, बौद्ध अवतार में, अमुकनाम संवत्सर में, अमुक मास में, अमुक पक्ष में, अमुक तिथि में, अमुक दिन, अमुक नाम का मैं अपने पापाचरण का क्षय करते हुए भगवान् की प्रीति के लिये प्रातःकाल सन्ध्योपासन करूँगा।

इस संकल्प का एक बृहत् रूप भी है जिसकी रचना यादवों के मंत्री हेमाद्रि ने की। उसमें भारतवर्ष का भौगोलिक वर्णन, पुण्य पुरी जनपद और नदियों की बृहत् सूची भी सम्मिलित है।

ज्ञात होता है मूल संकल्प की रचना गुप्तकाल के लगभग हुई जब भारतवर्ष के अन्तर्गत बृहत्तर भारत के नौद्वीप भी सम्मिलित माने जाते थे और इस देश का नाम कुमारिका द्वीप प्रचलित हो गया था। संकल्प के उस संस्करण का श्रेय सम्भवतः पंचरात्र भागवतधर्म को था। गुप्तकाल से भी पूर्व प्रचलित संकल्प की भाषा में 'भारते वर्षे कुमारिका खंडे' ये शब्द जोड़कर नया संकल्प बनाया गया और 'जम्बूद्वीपे भरत खंडे' ये पुराने भौगोलिक संकेत भी पूर्ववत् चलते रहें, यद्यपि दोनों में पुनरावृत्ति है।

अनुक्रमणिका